लौटना

नीलाभ प्रकाशन

नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

लौटता
हुआ
दिन
अश्क

प्रसंगवश

•

'लौटता हुआ दिन' मेरे नाटक 'क़ैद' का संशोधित, परिवर्तित, किंचित परिवर्धित, कहूँ कि शुरू से ले कर अन्त तक दोबारा लिखा गया, नया वर्शन है और चूँकि इस प्रक्रिया में इसके आधारभूत विचार में बहुत ही सूक्ष्म, लेकिन यकीनी अन्तर आ गया है, इसलिए मैंने इसका नाम भी बदल दिया है।

'क़ैद' मैंने पहली बार उर्दू में लिखा था—'क़ैद-ए-हयात' के नाम से। १६४७ के अगस्त में यह मेरे एक दूसरे उर्दू नाटक—'परवाज़' (उड़ान) के साथ 'मकतबा-ए-उर्दू' लाहौर से उस वक्त छपा, जब वहाँ कत्ल और ग़ारतगरी का बाज़ार गर्म था। अखनूर के उस शान्त, सुखद और सुरम्य वातावरण को प्रतिबिम्बित करने वाले इस नाटक का मार-काट के उन दिनों में लाहौर से छपना अपने में खासा विडम्बनापूर्ण है।

लेकिन इस नाटक के सिलसिले में यही एक विडम्बना नहीं हुई। आज, जब इस नाटक को शुरू से ले कर अन्त तक दोबारा लिख कर मैं प्रेस में दे रहा हूँ, मेरे सामने वे सारी विडम्बनाएँ घूम गयी हैं, जो अपने पच्चीस वर्ष के इतिहास में इस नाटक को झेलनी पड़ी। वे सारे प्रसंग चाहे हास्यापद हों, चाहे दुखद, चूँकि ख़ासे दिलचस्प हैं, इसलिए कुछ तो पाठकों के मनोरंजनार्थ और कुछ अपने मन के बोझ को हल्का करने के लिए मैं उनका उल्लेख कर रहा हूँ।

०

इस नाटक का पहला वर्शन मैंने ऑल इण्डिया रेडियो, दिल्ली के लिए उर्दू में, ग़ालिबन १६४३ के अन्त में लिखा और जब मुझे आशा थी कि मुझे भरपूर प्रशंसा मिलेगी, डायरेक्टरों ने कुछ टुच्चे दोष दिखा कर इसे नापास कर दिया। विडम्बना यह है (जैसा कि मैंने 'पच्चीस श्रेष्ठ एकांकी' की भूमिका में लिखा) कि रेडियो से मेरे त्यागपत्र देने के एक-डेढ़ वर्ष बाद, न केवल यह पेशावर स्टेशन से ब्रॉडकास्ट हुआ, वरन इण्टर-

स्टेशन-प्ले के रूप में भी बारी-बारी सभी स्टेशनों के प्रसारित हुआ।

जब भी मैं नाटक की उस प्रथम अस्वीकृति की बात सोचता हूँ, मेरे मन का पुराना घाव फिर हरा हो जाता है, लेकिन अब इतना दर्द नहीं होता, न गुस्सा ही आता है। उन तमाम नौकरशाहों के प्रति एक हल्का-सा दया-भाव मन में उपजता है—जो उस वक्त अपने छोटे-छोटे अहम लिये हुए, अपनी कुर्सियों पर बैठे, मेरे भाग्य-विधाता बने हुए थे। वे आज कहाँ हैं ? क्या उनका नाम भी किसी को याद रह जायगा। उन दिनों की याद जहाँ क्रोध, क्षोभ और दया की भावनाएँ उपजाती हैं, वहाँ मन में कुछ अजीब सरूर-सा भी भर देती हैं। मन में कैसी उमंग थी उन दिनों, कैसा उछाह !—कैसे मैं अपनी परेशानी से भाग कर हर दूसरे-तीसरे महीने एक-न-एक नाटक लिख देता था और प्रसारित होते ही वह लोकप्रिय हो जाता था।

परेशानी मुझे उन दिनों थी भी बहुत ज़्यादा। साल ही भर पहले, कुछ महीनों के अन्तर से, मैंने दो बार शादी कर ली थी—दूसरी पत्नी को छोड़ कर तीसरी पत्नी (कौशल्या) से—बेहद हंगामा हुआ था। मुझे प्रीत नगर छोड़ कर दिल्ली रेडियो में नौकरी लेनी पड़ी थी।...एक ओर प्रीत नगर के शान्त, सुरम्य, सुखद और सुविधाजनक दिनों की याद आती थी—वहाँ की रंगीन सुबहों-शामों की, वीरानों के शान्त-एकान्त की और नहर के किनारे की काव्य-भरी सैरों की और दूसरी ओर मेरे या मेरी दूसरी पत्नी के परिवारों की ओर से कोई-न-कोई उलझन खड़ी हो जाती थी। इस तमाम दिमाग़ी परेशानी से मुझे साहित्य में त्राण मिलता और जब मैं मेज़ पर बैठता, मुझे अभूतपूर्व एकाग्रता प्राप्त हो जाती।

दिल्ली रेडियो पर मैं नियुक्त तो हिन्दी सलाहकार के नाते हुआ था, पर मेरे अनुबन्ध में एक शर्त यह भी थी कि मैं अवकाश के समय एकाध नाटक भी दिया करूँगा। पहले वर्ष तो मैंने हिन्दी सलाहकार के नाते खूब काम किया। मुझ से पहले अज्ञेय अवैतनिक रूप से यह काम करते थे

और अपने तत्कालीन गुट के मित्र-परिचितों को रेडियो पर बुलाते रहते थे। मैंने सूची देखी तो सिवा होमवती देवी और रघुकुल तिलक के, मुझे उसमें एक भी हिन्दी लेखक दिखायी नहीं दिया। तब मैंने जाने-माने हिन्दी लेखकों की एक सूची बनायी और दूर-दराज़ के हिन्दी लेखकों और आलोचकों को दिल्ली स्टेशन पर बुलवाया और ढेरों वार्ताएँ प्रसारित करायीं। उस पहले वर्ष मैंने नये एकांकी ज़्यादा नहीं लिखे और अधिकांशतः मेरे पुराने नाटक ही ब्रॉडकास्ट हुए (कि यह भी मेरे अनुबन्ध की एक शर्त थी) लेकिन कदाचित एक वर्ष बाद ही रेडियो के बाहर हिन्दी वालों का आन्दोलन मन्द पड़ गया, इसलिए अधिकारी भी फिर उर्दू-परस्ती की अपनी पुरानी चाल पर आ गये। मेरा काम कम हो गया और एक-न-एक नाटक लिखना मेरे लिए अनिवार्य हो गया।

उन्हीं दिनों कृष्ण (कृष्ण चन्दर) बदल कर लखनऊ चले गये और उनकी जगह अन्सार नासिरी ड्रामा विभाग में आये और जैसा कि मैंने 'पच्चीस श्रेष्ठ एकांकी' में 'चरवाहे' और 'चिलमन' की भूमिकाओं में लिखा है, हास्य और व्यंग्यपरक एकांकी लिखना छोड़, मैंने कुछ गम्भीर, प्रतीकात्मक एकांकी लिखे। नासिरी ने उन्हें बड़े मन से प्रोड्यूस किया। मेरा बाह्य जितनी ज़्यादा परेशानियों से भरा था, अन्तर उतना ही सजग और सृजन-रत था। जाने कैसा नशा था। एक के-बाद-एक सुन्दर नाटक मैं लिखता चला गया। मैं आज मान लेता हूँ कि यदि अन्सार नासिरी ने मेरे पहले एकांकी 'पापी' की इतनी प्रशंसा न की होती; उसे लखनऊ से बहुत अच्छा प्रोड्यूस न किया होता, उसे इण्टर-स्टेशन-प्ले के रूप में ब्रॉडकास्ट न किया होता; अपने प्रसारण का रिकार्ड मुझे न सुनाया होता और मुझे गम्भीर प्रतीकात्मक नाटक लिखने के लिए न उकसाया होता, तो मैं कभी वे सब नाटक न लिखता। उसूल तो यही है कि लेखक प्रशंसा-निन्दा से विचलित न हो और सम-भाव से उन्हें ग्रहण कर, अन्तःप्रेरणा से लिखता चला जाय, पर मैं मान लूँ कि आज चाहे मुझ पर निन्दा-स्तुति का उतना प्रभाव नहीं पड़ता, तब पड़ता था और अन्सार नासिरी के

प्रोत्साहन और सहयोग में मैंने एक-से-एक बढ़िया एकांकी लिखे।

तभी १९४२ के दिसम्बर में कौशल्या के साथ मैं उसकी बड़ी मौसी के पास अखनूर गया। कुछ मानसिक परेशानियों से दूर होने के लिए और कुछ इसलिए कि रेडियो स्टेशन पर आठ घण्टे ड्यूटी देने के कारण, मैं 'गिरती दीवारें' को (जिसे मैं १९३९ में शुरू कर चुका था और प्रीत नगर से काफ़ी लिख लाया था) ज़रा भी आगे न बढ़ा पाया था। मेरी पत्नी ने अखनूर की बहुत प्रशंसा की थी और मैं दफ़्तर से एक महीने की छुट्टी ले कर 'गिरती दीवारें' का मसौदा उठाये उसके साथ अखनूर के लिए चल दिया था।

आज तो अखनूर हिन्द-पाक युद्ध की वजह से सारी दुनिया में प्रसिद्ध है, पर तब मेरे लिए वह नितान्त नया नाम था। जम्मू से अठारह मील दूर, समुद्र तल से २००० फ़ुट ऊँची जगह पर, चनाब नदी के किनारे बसा छोटा-सा कस्बा ! मैं दो-मंज़िले की छत पर एक बारहदरी में ठहरा। मेरे जाने के कुछ ही दिन बाद इर्द-गिर्द पहाड़ों की चोटियाँ बर्फ़ से धीरे-धीरे सफ़ेद होने लगीं। सवेरे-शाम मैं सैर को जाता। प्रकृति नित नया रूप बदलती। मैं मन्त्र-मुग्ध देखता।

एक महीने बाद मैं वहाँ से लौटा तो अखनूर के उस प्राकृतिक सौन्दर्य से आकण्ठ भरा था। कौशल्या उन दिनों दिल्ली के प्रसिद्ध संगीतज्ञ उस्ताद उस्मान ख़ाँ से गाना सीखती थी और 'ग़ालिब' की प्रसिद्ध ग़ज़ल :

> दिल ही तो है न संग-ो-ख़िश्त, दर्द से भर न आये क्यों
> रोयेंगे हम हज़ार बार, कोई हमें सताये क्यों

लगातार गाया करती थी। उसका स्वर अच्छा है और वह 'ग़ालिब' की ग़ज़लें बड़ी तन्मयता से गाती थी। मेरी आवाज़ तो सुरीली नहीं, पर कभी-कभी हम दोनों मिल कर यह ग़ज़ल गाया करते थे। जाने क्यों इस ग़ज़ल का शे'र :

क़ैद-ए-हयात-ो-बन्द-ए-ग़म असल में दोनों एक हैं,
मौत से पहले आदमी ग़म से नजात पाये क्यों

मुझे बहुत ही अच्छा लगता । अपनी कनसुरी आवाज़ के बावजूद मैं उसे प्रायः गाया करता । इस शे'र को लगातार गाते हुए अखनूर के उस सुन्दर वातावरण में क़ैद एक ऐसी युवती का चित्र मेरी आँखों में धीरे-धीरे रूप पाने लगा, जो अनचाहे उस सौन्दर्य में हमेशा के लिए क़ैद हो जाती है और जिसके भाग्य में मौत से पहले उससे आज़ाद होना नहीं लिखा ।

जब मैंने उसकी ज़िन्दगी पर कुछ और ग़ौर किया तो उसके पति, बच्चों, उसके प्रेमी और उसकी नयी प्रेयसी के चित्र मेरी कल्पना में आकार पा गये—वे सब-के-सब अपने हालात की उस क़ैद में बन्द हैं और हालात कुछ ऐसे हैं कि मौत से पहले वे उस क़ैद से छूट नहीं सकते । यूँ 'ग़ालिब' का यह शे'र उस छोटे-से परिवार की ज़िन्दगी पर पूरा उतरता है ।

o

मुझसे कई बार प्रश्न किया जाता रहा है कि क्या अप्पी और प्राणनाथ पूर्णतः काल्पनिक पात्र हैं अथवा यथार्थ से भी उनका कुछ सम्बन्ध है या फिर अखनूर के उस प्रवास में कोई ऐसी त्रासदी मैंने देखी थी ?

मैंने शत-प्रतिशत कल्पना से कम ही पात्र गढ़े हैं और यदि मैं कहूँ कि ज़िन्दगी में मैंने प्राणनाथ को भी देखा है और अप्पी को भी, तो ग़लत न होगा । लेकिन पूरी-की-पूरी ट्रैजिडी कहीं घटी है, शायद ऐसी बात नहीं । कोई एक घटना, कोई एक संकेत, कोई एक इशारा कई बार बड़ी कृतियों के सृजन की प्रेरणा दे जाता है । अप्पी के रूप में मैंने जिस नारी को ढाला है, उसकी किस बात अथवा किस इशारे ने मुझे नाटक लिखने की प्रेरणा दी, मैं कह नहीं सकता । सिर्फ़ इतना कह सकता हूँ कि पात्र मैंने लिये जीवन ही से हैं । यदि मैं उन दिनों 'गिरती दीवारें' न लिख रहा होता तो अखनूर के उस प्रवास में सँजोयी अनुभूतियों पर मैं निश्चय ही एक उपन्यास लिखता, पर मैं उन दिनों नाटक लिखता

था, इसलिए मेरी वह अनुभूति नाटक ही के रूप में ढल कर काग़ज़ पर उतर आयी।

०

ऑल इण्डिया रेडियो का दफ़्तर इस बीच अलीपुर रोड से नयी दिल्ली आ गया। स्टेशन डायरेक्टर के रूप में आडवनी की जगह श्री रशीद लाहौर से आ गये। वे परम साम्प्रदायिक वृत्ति के आदमी प्रसिद्ध थे। उनकी मदद को एक एडीशनल डायरेक्टर के० एल० मलिक आये। मेरे मित्र और प्रशंसक नासिरी कई महीने पहले बदल गये थे और उनकी जगह लखनऊ से एक हिन्दी लेखक श्री भटनागर आये थे और कुछ रशीद साहब की हिन्दी और हिन्दू विरोधी नीति के कारण, कुछ अपने अपरम्पार अहम और उतनी ही मूर्खता के कारण टिक नहीं पाये और एक दिन अपने जाने अद्वितीय, पर वास्तव में निहायत आवेश और मूर्खता-भरा पत्र रशीद साहब के नाम लिख कर त्यागपत्र दे गये थे। उनकी जगह मेरे मित्र और वतनी महमूद निज़ामी आये थे।

रेडियो पर नासिरी के लिए मैंने अन्तिम नाटक 'परवाज़' (उड़ान) लिखा था। उसके बाद वहाँ का वातावरण एकदम बदल गया था और शायद ही फिर कोई वैसा नाटक हुआ। मैंने भी 'सुबह-शाम' (अंजोदीदी) 'अज़ली-रास्ते' (आदि मार्ग) और 'फ़रज़ाना' (भँवर) लिखे और वे प्रसारित भी हुए, लेकिन सच्ची बात यह है कि मन मस्तिष्क पर अब भी नासिरी का प्रभाव था और मैं जब अखनूर से लौटा तो तीन-चार महीने की मेहनत से मैंने 'क़ैद-ए-हयात' लिख डाला। उसका जो हश्र हुआ, उसका उल्लेख मैं शुरू में कर चुका हूँ। उन दिनों डायरेक्टर मलिक से मेरा झगड़ा चल रहा था। मैंने 'पच्चीस श्रेष्ठ एकांकी' की भूमिकाओं में इसका सविस्तार उल्लेख किया है। जब वे मुझ से पार न पा सके तो मुझे मेरी औक़ात दिखाने को उन्होंने दूसरा तरीक़ा अपनाया। 'क़ैद-ए-हयात' को महमूद निज़ामी ने बेहद पसन्द किया था और उस पर अपने रिमार्क्स दे कर मलिक साहब को भेज दिया

था। मलिक साहब एक महीना उसे सेते रहे। जब मैंने पता किया तो मालूम हुआ कि उन्होंने रशीद साहब को भेज दिया है। महीना-दो-महीने यह उनकी मेज़ पर पड़ा रहा। जब चौथे महीने मैं उनसे मिलने गया तो कुछ बहुत टुच्ची-सी आपत्तियाँ करते हुए उन्होंने नाटक लौटा दिया। जब इसके बाद मेरे नाटक 'पक्का गाना' का भी वही हश्र हुआ तब झल्ला कर मैंने एक अत्यन्त साधारण एकांकी 'इश्तिहारी शादी' लिखा। वह पास हो गया। मैंने समझ लिया कि अब यहाँ रहने का धर्म नहीं है और मैंने रेडियो की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया।

छै महीने बाद फ़िल्मिस्तान, बम्बई के बुलावे पर मैं बम्बई चला गया और फ़िल्मिस्तान में नौकर हो गया। दो-तीन महीने मुझे वहाँ व्यवस्थित होने में लगे। जब मुझे मलाड में मकान मिल गया और दफ़्तर में अपना निजी कमरा, और 'नया सवेरा' लाहौर के मालिक-सम्पादक और हमारे पुराने मित्र, स्व० नज़ीर चौधरी ने 'नया सवेरा' के लिए कई नयी रचना भेजने का अनुरोध किया तो मैंने 'क़ैद' का मसौदा निकाला। उसे पढ़ा तो मुझे लगा कि उसमें प्रकृति-चित्रण ज़रूरत से ज़्यादा है। वास्तव में मैंने अखनूर से लौटते ही इसे लिख डाला था। मैं तब अखनूर के प्राकृतिक सौन्दर्य से बेहद अभिभूत था और अनजाने ही वहाँ की प्राकृतिक दृश्यावलियाँ जा-बे-जा नाटक में स्थान पा गयी थीं। मैंने मसौदा कृष्ण को पढ़ने के लिए दिया। उसने पढ़ कर नाटक की बेहद तारीफ़ की और कहा कि इसमें एक लाइन भी नहीं कटती। लेकिन इस प्रशंसा से मेरी तसल्ली नहीं हुई। मुझे लगता था कि उसमें बेज़रूरत प्रकृति का चित्रण है, लेकिन मैं व्यर्थ की पंक्तियों पर उँगली न रख सकता था।

मेरे साथ यह मुसीबत है कि मेरे लिखने की प्रेरणा में प्रकृति के बदलते हुए रंगों का बड़ा हाथ है। मेरी किसी रचना में भले ही कहीं प्रकृति का उल्लेख तक न हो, पर कहा नहीं जा सकता कि उस रचना का पहला ख़याल प्रकृति के किस दृश्य को देखते हुए कब मेरे मन में आया। मैं भले ही शहर की गहमा-गहमी में डूबा रहूँ, पर मेरे मन का

एक कोना सदा शहर से दूर पहाड़ों और वीरानों और सागर-तटों पर भटकता रहता है। इसीलिए जहाँ प्रकृति किसी रचना का अंग हो, मेरे लिए अपने आपको रोकना कठिन हो जाता है। 'क़ैद' की वे तमाम दृश्यावलियाँ अत्यन्त मनमोहक थीं, लेकिन एक-डेढ़ वर्ष के अन्तराल से नाटक पढ़ने पर लगता था कि उनमें कुछ को बेरहमी से काट देना चाहिए। प्रायः ऐसी कठिनाई में मित्रों से सहायता की अपेक्षा रहती है। मुझसे कोई मित्र चाहता है तो मैं पूरे मन में राय देता हूँ, लेकिन मुझे ऐसा सहयोग कम ही मिला है। मित्र तो कई बार जानते हुए भी कि रचना ख़ाम है, उसकी प्रशंसा कर देते हैं कि बेटा अपनी मौत स्वयं मरेंगे। यह भी हो सकता है कि मित्र स्वयं अच्छा लिख लेता हो, पर राय न दे पाता हो। अपने से भिन्न लेखन पर राय देना है भी अत्यन्त कठिन। बहरहाल, जब कृष्ण ने कहा कि इसमें एक भी पंक्ति नहीं कटती, तुम इसे इसी तरह 'नया सवेरा' में भेज दो तो मुझे थोड़ी निराशा हुई। मैं स्वयं नाटक को ले कर बैठा। उसका रंगमंच-वर्शन तैयार करने के लिए मैंने उसे दोबारा लिखा और इस प्रक्रिया में कई पैरे काट दिये।

कुछ दिन बाद वालकेश्वर रोड पर बन्ने भाई (श्री सज्जाद ज़हीर) के घर प्रगतिशील लेखक-संघ की एक मीटिंग में मैंने वह नाटक सुनाया तो सब ने एकमुख से उसकी प्रशंसा की और बन्ने भाई ने नाटक की भाषा को विशेषकर सराहा। वह नाटक मैंने 'नया सवेरा' (लाहौर) में भेज दिया और वह उसके किसी अंक में छपा। इस बीच मेरे पुराने मित्र और अफ़सर और दिल्ली के पड़ोसी श्री मुहम्मद इक़बाल पेशावर रेडियो स्टेशन के डायरेक्टर हो गये। [जब मैंने दिल्ली रेडियो की नौकरी स्वीकार की थी तो वे मेरे प्रोग्राम डायरेक्टर थे, भैरो के मन्दिर (तीस हज़ारी) के सामने भार्गव क्वार्टर्ज़ में हमारे पड़ोसी थे और एकांकीकार के रूप में मुझे बहुत मानते थे। मेरे पहले एकांकी लाहौर रेडियो स्टेशन से उन्होंने प्रस्तुत किये थे।] उन्होंने 'नया सवेरा' में मेरा नाटक पढ़ा तो उन्हें बहुत पसन्द आया। उन्होंने उसे पेशावर रेडियो स्टेशन के लिए शेड्यूल कर दिया और

जैसा कि मैंने पहले कहा, वह न केवल पेशावर से ब्रॉडकास्ट हुआ, वरन इतना सफल उतरा कि इण्डर-स्टेशन-प्ले के लिए चुना गया और ऑल इण्डिया रेडियो के सभी स्टेशनों से प्रसारित हुआ।

०

१६४६ में मुझे यक्ष्मा हो गया। डेढ़ वर्ष पंचगनी में गुज़ार कर मैं १६४८ की जुलाई में इलाहाबाद आ गया। १६४७ तक मैं प्रायः अपनी रचनाओं के पहले वर्शन उर्दू में लिखा करता था। लेकिन देश का विभाजन जैसे हुआ, उसके फलस्वरूप पंजाब जैसे बँटा और वहाँ कत्ल और ग़ारतगरी का जो बाज़ार गर्म हुआ, मुझे लगा कि स्वतन्त्र भारत में उर्दू के लिए ज़्यादा स्थान नहीं रहेगा। अपनी डेढ़ साल की बीमारी में धीरे-धीरे मैंने अपने सारे एकांकी और कहानियाँ हिन्दी में कर डाली थीं। मेरे सात प्रतीकात्मक एकांकियों का संग्रह 'चरवाहे' तो तभी 'भारती भण्डार' से छप गया था। इलाहाबाद आ कर मैंने नाटकों का संग्रह 'आदि मार्ग' साहित्यकार संसद को और हास्यरस की कहानियों का संग्रह 'छींटे' भारती भण्डार को दे दिया। थोड़ा व्यवस्थित होने पर मैंने 'क़ैद-ए-हयात' में छपे दोनों नाटक हिन्दी में कर डाले। जहाँ तक मुझे याद है, इनमें से एक (ग़ालिबन 'क़ैद') 'समाज' (कलकत्ता) में छपा था। मेरी पत्नी ने इस बीच प्रकाशन स्थापित कर दिया था। उन दिनों भारती (डॉक्टर धर्मवीर भारती) मेरे यहाँ नित्य आते थे। उन्हें दोनों नाटक बहुत पसन्द आये। उन्होंने एकदम अभिभूत हो कर दोनों नाटकों पर एक भूमिका लिखी और इस भूमिका के साथ १६५० में वे दोनों नाटक 'क़ैद और उड़ान' नामक संग्रह में छपे।

मैं तो चाहता था कि हिन्दी में भी नाटक का नाम 'क़ैद-ए-हयात' की ध्वनि दे और 'ग़ालिब' के शे'र की याद दिलाये, पर वैसा सम्भव नहीं था। इसलिए नाटक का नाम 'क़ैद' ही रख दिया गया कि यह थीम के निकटतम था! उसी वर्ष अथवा अगले वर्ष यह संग्रह 'प्रयाग महिला विद्यापीठ' तथा कश्मीर विश्वविद्यालय के पाठ्य-क्रम में लग गया और

अब तक इसके तीन संस्करण हो चुके हैं।

०

१९४७ में ऑल इण्डिया रेडियो का नाम बदल कर 'आकाशवाणी' हो गया, उर्दू-परस्ती की जगह हिन्दी-प्रेम ने ले ली, लेकिन नाटक का हश्र इस दौर में भी पहले से भिन्न नहीं हुआ।

०

उस ज़माने की बात है, जब लाड साहब सूचना और प्रसारण मन्त्रालय के नये-नये सेक्रेट्री हुए थे। एक दिन थक कर उन्होंने यूँ ही रात को दिल्ली स्टेशन का स्विच घुमाया कि कोई नाटक सुनें। वहाँ जो नाटक चल रहा था, उसमें किसी की मृत्यु हो गयी थी और निहायत भोंडी चीख-चहाड़ मची थी। उन्होंने क्रोध में फ़ोन उठाया और स्टेशन डायरेक्टर को डाँटा कि रेडियो मनोरंजन का माध्यम है और इतना रोना-रुलाना सुन कर कौन रेडियो सुनना चाहेगा। ऐसे रोने-रुलाने वाले नाटक रेडियो पर हरगिज़ नहीं होने चाहिएँ।

और लीजिए, 'आकाशवाणी' के नौकरशाहों ने गम्भीर दुखान्तकियों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। उन्हीं दिनों सत्येन्द्र शरत दिल्ली स्टेशन के नाटक विभाग से संलग्न थे। उन्होंने 'क़ैद' को प्रसारण के लिए प्रस्तावित किया तो नाटक विभाग के प्रोडयूसर ने यह कह कर उसे रद्द कर दिया कि यह दुखान्तकी है और लाड साहब दुखान्तकियों को पसन्द नहीं करते।

मुझे सन् तो याद नहीं, कदाचित १९५५-५६ की बात है, उस वर्ष श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने, जो आकाशवाणी के महानिदेशक हो गये थे, एक अखिल भारतीय सेमिनार आयोजित किया। लंच के बाद लाड साहब के साथ सभी लेखक-प्रोड्यूसरों की मीटिंग हुई। (तब पन्त, भगवती चरण वर्मा, अमृतलाल नागर, नरेन्द्र सब रेडियो में चले गये थे।) नाटकों के पारिश्रमिक पर लाड साहब से मेरी बहस हो गयी। वे एक नया नियम बनाने जा रहे थे, जिसके अधीन रेडियो-वार्ताओं ही की तरह एकमुश्त रक़म दे कर वे नाटकों का स्वत्वाधिकार रेडियो के लिए

लेना चाहते थे। मैंने इस का कड़ा विरोध किया। मेरा कहना था कि इस फ़ीस पर रेडियो को अच्छे नाटक नहीं मिलेंगे और सौ-दो-सौ दे कर नाटकों के अधिकार हमेशा के लिए लेना लेखकों के साथ अन्याय करना है। यही नहीं, ऑल इण्डिया रेडियो यदि अच्छी वार्ताएँ चाहता है, तो उनके लिए भी सब्सीकुएण्ट रॉयल्टी की व्यवस्था होनी चाहिए। लाड साहब बहस-बहस में बहुत गर्मी खा गये। उन्होंने कहा कि रेडियो पब्लिक की सेवा का विभाग है और उसमें लेखकों को पूरा हक नहीं दिया जा सकता। हम लोग जितना वेतन पाते हैं, वह हमारी योग्यता के मुकाबिले में बहुत कम है, लेकिन ऐसे विभाग का काम सेवा-भाव ही से चल सकता है, बड़े लेखक सहयोग नहीं देंगे तो हम उन आम लेखकों से लिखवायेंगे, जा रेडियो को अपनी रचनाओं के पूर्ण अधिकार दे दें। मैंने कहा—'तब इस सेमिनार में आपको उन्हीं लोगों को बुलाना चाहिए था, लेकिन बुलाया आपने सब चोटी के कवियों और लेखकों को है।'

बहरहाल, उन उपस्थित लेखकों में सिर्फ़ रेवती सरन शर्मा ने उस सख्त बहस-मुबाहसे मे लगातार मेरे पक्ष का समर्थन किया और इस बात का मुझे आज भी अफ़सोस है कि हिन्दी के तमाम दिग्गज लेखक, जो रेडियो के सेवादार हो गये थे, उस तमाम बहस के दौरान मौन बने रहे। हाँ, श्री माथुर बड़ी सफ़ाई और सब्र से हमारे मत का समर्थन करते हुए लाड साहब को हमारा पक्ष समझाते रहे और अन्त में लाड साहब ने हमारी बात आधी मान ली कि बजाय एक ही बार नाटक का एकमुश्त रुपया दे कर कापीराइट लेने के, वे पुर्नप्रसारण की दरें नियत कर देंगे और जो लेखक वे दरें पसन्द न करेगा, उसका नाटक एक ही बार प्रसारित किया जायगा।

इसी बहस में, मुझे याद नहीं कैसे, मैंने विभाग द्वारा बड़े अफ़सरों के आदेशों के पालन की बात करते हुए 'क़ैद' की अस्वीकृति की बात कही और ताना दिया कि शायद आप आम श्रोताओं को केवल निम्नकोटि के नाटक ही सुनाना चाहते हैं और उनका स्तर उठाने की

कोई कोशिश नहीं करना चाहते ।

माथुर साहब ने 'क़ैद' की प्रशंसा करते हुए कहा कि लाड साहब का हरगिज़ ऐसा मतलब नहीं हो सकता । लाड साहब ने भी इस बात का समर्थन किया ।

बहरहाल, वही नाटक, जिसे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी दिल्ली के स्टेशन डायरेक्टर ने एक बार अस्वीकार कर दिया था, १९५८ की जनवरी में नेशनल प्रोग्राम में स्वीकृत हुआ और सभी भाषाओं में ब्राडकास्ट किया गया । नये नियम के अनुसार आधे घण्टे के नाटक के बारह-साढ़े बारह रुपये दूसरी रॉयल्टी के मिलने चाहिएँ थे, लेकिन मुझे इस नाटक की सब्सीकुएण्ट रॉयल्टी के चालीस रुपये हर स्टेशन से मिले ।

०

माथुर साहब ने जब नाटक को नेशनल प्रोग्राम के लिए चुना था (और जैसा कि मैंने कहा, यह आधुनिक हिन्दी का पहला नाटक था, जो उस प्रोग्राम में चुना गया) तो उन्होंने कहा था कि मेरे नाटकों में उन्हें यह सर्वाधिक प्रिय है । लेकिन यह नाटक यद्यपि रेडियो पर, स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले और बाद, अस्वीकृत हो कर भी स्वीकृत हुआ और सभी स्टेशनों से प्रसरित हुआ, मंच पर नहीं खेला गया । मेरे नाटकों में 'छठा बेटा,' 'अंजो दीदी' और 'अलग-अलग रास्ते' मंच पर बहुत सफल हुए हैं और बार-बार खेले गये हैं । 'अंजो दीदी' अनूदित हो कर गुजराती में न सिर्फ़ छपा, बल्कि मंचित भी हुआ । 'अलग-अलग रास्ते' मराठी में छपा नहीं, पर महाराष्ट्र में खेला गया । 'जय पराजय' और 'उड़ान' भी खेले गये, लेकिन किसी ऐमेचर संस्था ने १९६१ तक 'क़ैद' खेलने की हिम्मत नहीं दिखायी ।

फिर सहसा १९६२ में 'प्रयाग रंगमंच' ने इसे खेलने का फ़ैसला किया । मंच के सुयोग्य डायरेक्टर स्व० श्री सत्यव्रत सिन्हा ने कहा कि नाटक की भाषा कहीं-कहीं क्लिष्ट है, उसे रवाँ कर दें और अन्त ज़रा बदल दें तो हम इसे कर डालें ।

मैंने नाटक की भाषा यथाशक्य बदल दी । अन्त के बारे में उनसे

परामर्श हुआ। यद्यपि मुझे अपना वही अन्त पसन्द था, लेकिन उनकी बात में मुझे सार लगा। सच्ची बात यह है कि जब १९४३ में मैंने नाटक लिखा था और तब के प्रसिद्ध प्रोड्यूसर रफ़ी पीर को सुनाया था तो उन्होंने भी कुछ वैसा ही सुझाव दिया था। मैंने अन्त ज़रा-सा बदल दिया। प्रायः अपने नाटकों की (यदि वे इलाहाबाद में हों) रिहर्सलें तो मैं देख लेता रहा हूँ, पर नाटक नहीं देखता। जहाँ तक 'कैद' का सम्बन्ध है, चूँकि इसकी रिहर्सलें मेरे घर से बहुत दूर होती थीं, मैं इसकी एक भी रिहर्सल नहीं देख सका। मैंने मंच पर नाटक ही देखा। नाटक की प्रस्तुति में कई तरह की त्रुटियाँ थीं। क्योंकि नाटक में माइक्रोफ़ोनों की मदद ली गयी थी और माइक्रोफ़ोनों के साथ पूरी रिहर्सलें नहीं की गयी थीं, इसलिए मंच पर पात्रों के ठीक स्थान पर न होने और माइक से दूर पड़ जाने के कारण कई बार पीछे बैठे लोगों को सम्वाद सुनायी नहीं देते थे। लेकिन उस प्रस्तुति से मंच पर नाटक की संभावनाएँ मेरे सामने उजागर हो गयीं। अन्त बहुत जमा। लोग क्षण भर सन्नाटे में बैठे रहे, फिर हॉल तालियों से गड़गड़ा उठा और उस प्रस्तुति के लिए मैं 'प्रयाग रंगमंच' और डॉक्टर सिन्हा का हृदय से आभारी हूँ।

०

लेकिन नाटक लिखने के लगभग सत्रह-अठारह वर्ष बाद उसे मंच पर देखते समय मेरे सामने अपने नाटक की कुछ ऐसी त्रुटियाँ घूम गयीं, रेडियो पर प्रोड्यूस करते, सुनते अथवा पढ़ते हुए जिनका मुझे एहसास तक न हुआ था।

जैसा कि मैंने कहीं लिखा है, नाटककार की हैसियत से अपना कैरियर मैंने रेडियो नाटककार के रूप में शुरू नहीं किया, मंच के नाटककार के रूप में ही शुरू किया था। रेडियो से परिचित होने से पहले मैं अपना पूर्णकालिक नाटक 'जय पराजय' और एकांकी 'पापी' और 'लक्ष्मी-का स्वागत' लिख चुका था। 'स्वर्ग की झलक' और 'छठा बेटा' भी मैंने रेडियो के लिए नहीं, मंच ही के लिए लिखे (जो मेरे दिल्ली रेडियो

की नौकरी छोड़ने के वर्षों बाद रेडियो पर प्रसारित हुए। काफ़ी देर तक मैं मंच के लिए ही नाटक लिखता रहा, फिर उनके रेडियो वर्शन तैयार करके रेडियो प्रसारण के लिए भेजता रहा।

लेकिन जब मैं दिल्ली के रेडियो स्टेशन पर मुलाज़िम हो गया तो यह सोच कर कि बाद में उनके रंगमंचीय वर्शन तैयार कर दूँगा, मैं अपने नाटकों के रेडियो वर्शन लिख कर उन्हें प्रसारित करता रहा। चूँकि मंच से दूर चला गया, इसलिए जब मैंने उनके स्टेज-वर्शन तैयार करके उन्हें प्रकाशित किया तो पात्रों के अभिनय और मंच पर उनकी प्लेसमेण्ट के बारे में हिदायतें उतने विस्तार से मैंने नहीं दीं, जैसा कि मैं अपने पहले नाटकों में देता आया था। एक ख़याल (अर्ध-चेतन में) शायद यह भी रहा कि नाटक कहीं मंच पर तो होंगे नहीं, पढ़े ही जायेंगे, क्यों इतने विवरण दे कर पाठकों को बेकार में बोर किया जाय। कोई डायरेक्टर नाटक खेलना चाहेगा तो अपनी ज़रूरत के मुताबिक रंगमंच-निर्देश जोड़ लेगा। चूँकि 'अलग-अलग रास्ते' और 'अंजो दीदी' प्रकाशित होने से पहले खेले गये, इसलिए उनमें ये दोष मैंने दूर कर दिये, लेकिन 'क़ैद' में ऐसा नहीं हो सका। वह नाटक चूँकि रेडियो पर मेरे अन्तिम नाटकों में से था, इसलिए उसमें यह दोष सर्वाधिक मौजूद रहा। मुझे पक्का याद नहीं कि हिन्दी में मैंने इसे कब किया? जैसा कि मैंने पहले कहा, शायद मैंने उसे इलाहाबाद आने के बाद ही हिन्दी में किया। चूँकि वह काल मेरे नये-नये हिन्दी प्रदेश में आने का था, इसलिए इसकी भाषा भी ज़रूरत से ज़्यादा संस्कृतनिष्ठ रही। कहूँ कि अनुवाद ही की भाषा रही। 'क़ैदे-हयात' उर्दू में बड़ी ही काव्यमयी भाषा में लिखा गया था। उसे हिन्दी में करना अत्यन्त कठिन था। पात्रों के भावों को जस-का-तस उर्दू से हिन्दी में करने की प्रक्रिया में भाषा रवाँ नहीं रही। मुझे इस बात का एहसास न हो, ऐसी बात नहीं। मैंने दूसरे संस्करण में भाषा थोड़ी बदली, लेकिन पूरी तरह उसे बदलने का मुझे समय नहीं मिला। जब श्री सत्यव्रत सिन्हा ने 'प्रयाग रंगमंच' के लिए

नाटक चुना और मुझे उसकी भाषा को एक नज़र देखने के लिए कहा तो मुझे इन दोनों बातों का एहसास हुआ।

'प्रयाग रंगमंच' के लिए नाटक को एक नज़र देखते हुए, मुझे यह भी लगा कि इस नाटक को दोबारा लिखना चाहिए। बहरहाल, मैंने भाषा कुछ ठीक कर दी, अन्त बदल दिया और यह ४ अक्टूबर, १६६२ को ओ० टी० एस० हॉल में खेला गया।

अप्पी की भूमिका में कुमारी यूना पीटर्ज़ ने बहुत ही अच्छा और यादगार अभिनय किया। वाणी की भूमिका कुमारी सुनीति ओब्राय ने ऐसे निभाई कि लगता था, जैसे वह उसी भूमिका के लिए बनी हो।

इतने बरस बीत जाने के बाद शेष पात्रों के अभिनय की उतनी याद नहीं—सिवा इसके कि प्राणनाथ की भूमिका में सत्यव्रत सिन्हा ने दिलीप, के मित्रों की भूमिका में काम करने वाले अभिनेताओं ने तथा निम्मो और दीशी की भूमिकाएँ निभाने वाले बच्चों ने बहुत अच्छा काम किया था। दिलीप की भूमिका में जीवन उतरे। जीवन पुराने मँजे हुए अभिनेता हैं। अभी पिछले दिनों मैंने उन्हें 'प्रयाग रंगमंच' के नाटक 'पंछी ऐसे आते हैं' की मुख्य भूमिका में देखा, जिसमें उन्होंने अद्भुत ऐक्टिंग की। जहाँ तक 'क़ैद' का सम्बन्ध है, जैसा कि मैंने पहले कहा—उसमें माइक का प्रयोग किया गया था और माइक की रिहर्सलें न होने के कारण दिलीप के सम्वाद ठीक से सुनायी नहीं दिये और नाटक में अप्पी दिलीप पर भारी रही।

जो भी हो, उन अभिनेताओं ने नाटक की तमामतर सम्भावनाएँ मुझ पर उजागर कर दीं और इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

वहाँ तो किसी ने नहीं कहा, लेकिन दर्शकों में बैठे, सामने मंच पर नाटक को देखते हुए मेरे सामने जहाँ नाटक की ख़ूबियाँ और सम्भावनाएँ उभरीं, वहाँ कुछ त्रुटियाँ भी साफ़ दिखायी दीं—कुछ ऐसी, जो पढ़ते वक्त नहीं दिखायी दी थीं और मेरा वह ख़याल कि मुझे नाटक को पुनः लिखना चाहिए, निश्चय में बदल गया और मैंने तय किया कि मैं इसे

शुरू से ले कर अन्त तक दोबारा लिखूंगा ।

o

और यहीं एक नये दुखद प्रसंग की शुरूआत हो गयी । चूंकि मैं विस्तार से इस पर 'एक नन्हीं किन्दील' तथा 'पच्चीस श्रेष्ठ एकांकी' की भूमिकाओं में लिख चुका हूँ, इसलिए मैं यहाँ प्रसंगवश संक्षेप ही में उसका उल्लेख करूँगा ।

o

१९६७ के अगस्त-सितम्बर में मैं दिल्ली गया था । वहाँ माथुर साहब (श्री जगदीश चन्द्र माथुर) से मिला । चूंकि इस नाटक को वे मेरे सारे नाटकों में सर्वप्रिय और सर्वश्रेष्ठ मानते रहे हैं, इसलिए मैंने उनसे अपने मन की बात कही और बताया कि मैं इसे दोबारा, एक सिरे से दूसरे सिरे तक, लिखना चाहता हूँ, आप यदि इस सन्दर्भ में कुछ सुझाव दें तो मैं बड़ा आभारी हूँगा ।

[यहाँ मैं दो शब्द, मित्रों से राय लेने की अपनी इस आदत के सिलसिले में लिखना चाहता हूँ । हिन्दी में उस्तादी-शागिर्दी की परम्परा नहीं । हिन्दी का लेखक अपने को सर्जक मानता है—सर्जक याने स्रष्टा—वह किसी प्रेरणा के क्षण में सृजता है, अब उसे उसके दोष कौन बताये और वह क्यों माने !

लेकिन उर्दू में न केवल उस्तादी-शागिर्दी की परम्परा रही है, वरन मित्रों में बैठ कर एक-दूसरे को अपनी रचना सुनाने, दिखाने, राय अथवा सुझाव लेने-देने की परम्परा भी रही है । मेरे पूर्ववर्तियों में 'पतरस' अपने प्रख्यात हास्य-निबन्ध न केवल मित्रों को सुनाते थे (और उनके मित्रों में 'ताज,' तासीर,' 'तबस्सुम,' 'सालिक,' 'मेहर,' 'अखतर' और 'हफ़ीज़' आदि[1] प्रसिद्ध लेखक, नाटककार, आलोचक और कवि थे) उनसे राय लेते थे, बल्कि प्राय: एक-एक शब्द और वाक्यांश पर उनके मित्र

---

१. **ताज = इमत्याजअली ताज, तासीर = प्रो० मुहम्मद दीन तासीर, तबस्सुम = सूफ़ी ग़ुलाम मुस्तफ़ा तबस्सुम; सालिक = अब्दुल मजीद सालिक; मेहर = ग़ुलाम रसूल मेहर; अख़तर = पं० हरीचन्द अख़तर ।**

बहस करते थे।

वे लोग बहुत कम लिखते थे, लेकिन जमा कर लिखते थे। 'पतरस' ने अपने निबन्धों का केवल एक संग्रह—'पतरस के मज़ामीन'—लिखा और इम्तियाज़ अली ताज ने केवल एक नाटक—अनारकली—लेकिन ये दोनों रचनाएँ एक ही तरह लिखी गयीं और उर्दू साहित्य में अमर हो गयीं।

जहाँ तक मेरे उर्दू साथियों का सवाल है, मैं और बेदी और कृष्ण हमेशा एक-दूसरे को अपनी रचनाएँ सुनाते और राय लेते रहे हैं। और-तो-और, जिन दिनों मैं बम्बई में था, मेरे साथ चपकलश रहने के बावजूद, मण्टो अपनी कहानियाँ मुझे सुनाते थे।

उर्दू से हिन्दी की ओर आने के कारण मेरे मन में रचना पूरी करके उसे मित्रों को सुनाने और उनसे राय लेने की आदत बदस्तूर बनी रही। इस सन्दर्भ में मेरे अनुभव खासे दिलचस्प हैं। बहरहाल, मैंने इस सिलसिले में एक सिद्धान्त बना रखा है कि आदमी हर किसी को अपनी रचना न सुनाता फिरे और हर किसी का हर सुझाव न माने। वही माने, जो उसके मन लग जाय, कहा जाय कि जो उसके अपने मन की खुटक के अनुरूप हो।

बात यह है कि यदि आदमी हर किसी का सुझाव मानने लगेगा तो रचना का कबाड़ा हो जाएगा। आदमी को सुननी सब की चाहिए, करनी अपने मन की चाहिए। कई बार ऐसा होता है कि जब हम कुछ लिखते हैं तो दोबारा पढ़ते या मित्रों को सुनाते वक्त हमें उसमें कहीं-कहीं कुछ खटकता है, लेकिन हम उस पर उँगली नहीं रख सकते। अब सिद्धान्त यह है कि यदि किसी का सुझाव ऐसे स्थलों के बारे में हों, जहाँ आपको भी कुछ खटकता है और वह सुझाव आपको ठीक लगे तो उसे तुरन्त मान लेना चाहिए, वरना नज़रअन्दाज़ कर देना चाहिए। मैंने जब माथुर साहब से सुझाव माँगे थे तो मेरा यही खयाल था कि उन्हें भी यदि उन स्थलों पर एतराज़ हुआ, जहाँ मुझे आपत्ति है तो मैं उन्हें बदल डालूंगा।

लेकिन माथुर साहब शायद व्यस्त थे। उन्होंने कोई सुझाव नहीं दिया। बात चलने पर उन्होंने कहा कि सौभाग्य से यहाँ अलकाज़ी साहब 'नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा' का संचालन और निर्देशन कर रहे हैं, अच्छा हो, यदि आप उनकी राय लें।

उन्होंने स्वयं भी इस सन्दर्भ में उनसे बात करने का वायदा किया। संयोग से एक दिन अलकाज़ी साहब से भेंट हो गयी। वे बड़े तपाक से मिले। मैंने चलते वक्त अपना मन्तव्य प्रकट किया तो उन्होंने वायदा किया कि वे ज़रूर मेरा नाटक पढ़ेंगे और राय देंगे।

आज मुझे लगता है कि उन्होंने महज़ तकल्लुफ़न वायदा कर लिया था। उन्हें कतअन ख़याल नहीं होगा कि मैं इतनी जल्दी और इतनी गम्भीरता से उस वायदे की ईफ़ाई[1] चाहूँगा। इलाहाबाद आ कर मैंने उन्हें हिन्दी-उर्दू, दोनों में छपे हुए नाटक भेजे और लिखवाया कि मैं दिसम्बर में दिल्ली आऊँगा, उनसे मिलूँगा; आभार मानूँगा, यदि वे तब तक मुझे अपने सुझाव दे दें।

दिल्ली पहुँच कर इस सन्दर्भ में क्या हुआ, इस पर मैं विस्तार से लिख चुका हूँ। यहाँ सिर्फ़ इतना ही कि उनसे मिलना ही कठिन हो गया। जब मैंने सख्त पत्र लिखा तो उन्होंने स्वयं राय देने से इनकार कर दिया। यह पेशकश की कि यदि मैं चाहूँ और बुरा न मानूँ तो 'नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा' में मेरे नाटक पर तीन दिन तक डिसकशन रखी जा सकती है। जब मैं इस पर भी राज़ी हो गया तो वे फिर चुप लगा गये। मैंने अकादेमी जा कर पता किया तो मालूम हुआ कि वे विदेश चले गये हैं। यह पूछने पर कि मेरे लिए कोई सन्देश तो नहीं छोड़ गये, कुछ भी मालूम नहीं हो सका। मुझे दिल्ली में रहते हुए लगभग तीन महीने हो गये थे। मैं बहुत परेशान हो गया और इसी परेशानी में मैंने साहित्य अकादेमी की एक मीटिंग में, भारत भर के गण्य-मान साहित्यकारों के बीच उनके व्यवहार की बहुत कड़ी आलोचना कर

---

१. पूर्ति

दी। घर पहुँचा तो उनका पत्र मेज़ पर पड़ा था कि मेरे ड्रामे पर उन्होंने तीन दिन तक डिसकशन रखी है और मैं तत्काल अपनी अनुमति दूँ।

चूँकि डाक से उत्तर भेजने का समय नहीं था। मैं स्वयं उत्तर देने चला गया। उन्होंने मुझे देख लिया और बुला लिया। वे बहुत गुस्से हुए। मैं भी बमका। हम दोनों में ख़ासी झोड़ हो गयी। उनका ख़याल था कि मैं दूसरे हिन्दी नाटककारों की तरह उनसे अपना नाटक खेलवाना चाहता हूँ और उन्हें व्यर्थ ही परेशान कर रहा हूँ। मैंने उनका भ्रम दूर किया और ठीक स्थिति बतायी। बहरहाल दूसरे ही दिन 'क़ैद' पर डिसकशन शुरू हुई। तीन दिन तक उनके छात्र नाटक पर पिले रहे। बहस के खात्मे पर अलकाज़ी साहब ने मुझे हर तरह की सुविधाएँ देने का वचन दिया यदि मैं वहाँ रह कर नाटक को दोबारा लिखना चाहूँ। बाद में उसे हाथ में लेने का भी संकेत दिया। लेकिन मुझे दिल्ली में रहते हुए इतना समय हो गया था कि मेरी पत्नी ने सीटें बुक करा दी थीं। फिर अलकाज़ी साहब द्वारा नाटक कराना मेरा उद्देश्य था भी नहीं। मैं नाटक की ख़ामियों के बारे में उनकी (अथवा उनके छात्रों की) राय चाहता था। वह, जैसी भी वे दे सकते थे, मुझे मिल गयी और मैं तीसरे दिन वापस चला आया।

यह सब कुछ जैसे घटा, उससे मैं इतना विक्षुब्ध हुआ कि नाटक दोबारा लिख पाना मेरे लिए असम्भव हो गया। मुझे बार-बार यही ख़याल आता कि मैं क्यों ऐसे स्नॉब और नौकरशाह को नाटक दिखाने चला गया और क्यों मैंने इतना समय बर्बाद किया। मन लगाने के लिए मैंने पहले लेखकों की समस्याओं पर 'नयी कहानियाँ' में छपे अपने लेख 'कुछ....दूसरों के लिए' नामक एक पुस्तक में संकलित किये, फिर मैं 'गिरती दीवारें' के तीसरे खण्ड—'एक नन्हीं किन्दील' पर जुट गया। इन दो वृहद किताबों को लिखने के दौरान मेरा क्रोध किंचित कम हो गया।'एक नन्हीं किन्दील' मैंने ६८ में ख़त्म किया। '७० का वर्ष मेरे लिए विपदाओं का वर्ष रहा। मैं कुछ भी नहीं लिख सका।' ७१ में अपने को

कुछ व्यवस्थित कर, मैं इस नाटक को ले कर बैठा और मैंने इसे शुरू से लिखना आरम्भ किया। मैंने इसका एक अंक लिखा था कि मेरे पुराने प्रशंसक और मेहरबान श्री धर्मवीर, तत्कालीन राज्यपाल मैसूर, ने (मेरी आर्थिक और मानसिक स्थिति को जान कर) मुझे अपने पास बुला लिया। शेष दो अंक मैंने वहीं राज्य भवन, बंगलौर में लिखें।

०

'नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा' के छात्रों ने 'क़ैद' पर जैसी सतही बहस की, उससे मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि नाटक के मंचन के सम्बन्ध में तो रंगकर्मी ज़रूर नाटककार की सहायता कर सकते हैं, लेकिन वस्तु अथवा शिल्प की संरचना के बारे में ठोस सुझाव देना शायद उनके बस की बात नहीं।

मुझे यह जान कर हैरत हुई कि दो दिन तक नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा के छात्र 'क़ैद' पर बहस करते रहे। (नेमि नहीं बोले और अलकाज़ी भी चुप ही रहे—प्रकट ही अपनी बात उन्होंने अपने छात्रों द्वारा मुझ तक पहुँचा दी) लेकिन नाटक की साफ़ दिखायी देने वाली त्रुटियों पर किसी ने आपत्ति नहीं की और नाटक की थीम और कथानक को ले कर ही बातें करते रहे।

जब तीसरे दिन मैं बोला और मैंने कहा कि अच्छा होता यदि आप कुछ ठोस और रचनात्मक सुझाव देते, लेकिन आप में से किसी ने उसके प्रकट दोषों की ओर भी संकेत नहीं किया, तब अचानक अलकाज़ी साहब ने अंग्रेज़ी में पूछा कि कौन-से प्रकट दोष।[1]

मैंने कुछ त्रुटियों का उल्लेख किया, जो पच्चीस वर्ष पहले लिखे नाटक में मुझे साफ़ दिखायी दी थीं।

अलावा उन ख़ामियों के, जिनका मैं पहले उल्लेख कर चुका हूँ, मुझे नाटक में तीन-चार बातें और खटकती थीं :

(१) दीशी और निम्मो से कुछ भी करने को कहो, वे हर बात पर मिठाई या किसी दूसरी चीज़ की फ़रमाइश करते हैं। यह ठीक है कि

---

१. Which obvious faults ?

ज़्यादा लाड़ अथवा उपेक्षा में पले बच्चे बिगड़ जाते हैं और चूंकि इन बच्चों को पिता बेहद लाड़ देते हैं और माँ उपेक्षा, इसलिए ये बच्चे बिगड़े हुए हैं, यही दिखाना मुझे अभीष्ट भी था, लेकिन तब वे एक ही बार माँ के अनुरोध को मान नहीं सकते, मुझे लगा कि बच्चों के सम्वाद आरोपित हैं, और वे सहज और यथार्थ होने चाहिएँ। (यह और बात है कि मंच पर बच्चों का अभिनय बहुत अच्छा था। किसी ने इस बात की शिकायत भी नहीं की, पर मुझे ऐसा लगा।)

(२) दिलीप आते ही प्रकृति-वर्णन शुरू कर देता है। और धारा-प्रवाह प्रकृति की सुन्दरता का बखान करता चला जाता है। माना कि वह कवि है और अखनूर का प्रदेश बहुत सुन्दर है (और उस सुन्दरता को दर्शकों तक पहुँचाना भी नाटक लिखते समय मेरा एक उद्देश्य था) लेकिन कवि भी इतनी मुद्दत के बाद अपनी प्रेयसी से मिलने पर एकदम कविता शुरू नहीं कर देता। कुछ घर-द्वार की बातें भी करता है।

(३) अप्पी जैसे किंगकाँग की बात करती है, वह प्रतीक मुझे यथार्थ होते हुए भी थोड़ा आरोपित और फूहड़ लगता था।

(४) बेगाँ वाला प्रसंग जैसे वहाँ लिखा गया, मुझे पैबन्द सरीखा लगता था।

मैंने अपने भाषण में इन सब बातों का उल्लेख किया, 'नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा' के छात्रों को धन्यवाद दिया, उनसे कहा कि जब मैं नाटक दोबारा लिखूंगा, इस डिसकशन में जो नुक़्ते मेरे मन ने स्वीकार किये हैं, नाटक को पुनः लिखते वक्त, उनका ध्यान रखूंगा।

जैसा कि मैंने पहले कहा, अलकाज़ी साहब चाहते थे कि मैं वहीं बैठ कर नाटक लिखूं और वे उसे हाथ में लें, पर अपने विक्षोभ में वह लालच छोड़ कर मैं चला आया, तब मुझे मित्रों ने कहा था कि मैंने बहुत ग़लती की, कि यदि अलकाज़ी नाटक को हाथ में लेते तो उसका बड़ा प्रचार होता, 'नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा' में ही नहीं, 'संगीत-नाटक अकादेमी' से अनुदान पाने वाली अन्य संस्थाओं द्वारा भी नाटक खेला

जाता, मुझे धन और यश दोनों मिलते, आदि....आदि....। इस धन वाली बात का, उस झोड़ में, जिसका मैं उल्लेख कर चुका हूँ, अलकाज़ी साहब ने भी उल्लेख किया था। लेकिन मैं समझता हूँ कि मैंने ठीक ही किया, जो तत्काल नाटक नहीं लिखा। उस वक्त तो उस सारे प्रसंग को ले कर मेरे मन में कटुता भी थी; फिर उनकी इस बात को याद करके कि हिन्दी लेखक अपने नाटक खेलवाने के लिए उनके पीछे पड़े रहते हैं, मैंने उनकी वह पेशकश नामंज़ूर कर दी, लेकिन यदि मैं उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लेता तो मुझे सन्देह है कि मैं बिना पूरी तैयारी और सोच के, नाटक को मन के मुताबिक लिख लेता।

इसके अलावा अलकाज़ी के स्कूल में नाटक पर जैसी सतही बहस हुई और उसके बाद जैसे उन्होंने नाटक को हाथ में लेने की पेशकश की, उससे मुझे लगा कि उनके निकट वह सब सरकारी खानापूरी के बराबर था—प्रचार का एक माध्यम भर! (कि अलकाज़ी नाटक करने से पहले अपने रंग-कर्मियों द्वारा उसके सभी पहलुओं पर बहस करते हैं और जब नाटक उनके मन के अनुरूप बनता है तभी उसे हाथ में लेते हैं।) मेरे निकट नाटक-लेखन (नाटक ही नहीं, साहित्य-लेखन) अत्यन्त गम्भीर कार्य है और मैं इसे हल्के स्तर पर कभी नहीं लेता। नाटक को इतने वर्ष बाद पढ़ते वक्त मेरे मन में जो सन्देह उठे थे, 'प्रयाग रंगमंच' के लिए उसे तैयार करते वक्त और 'प्रयाग रंगमंच' के स्टेज पर उसकी प्रस्तुति देख कर जो त्रुटियाँ उसमें मुझे दिखायी दी थीं, 'नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा' की बहस के दौरान जो नुक्ते सामने आये—(विशेष रूप से चार अंकों के बदले नाटक को तीन अंकों का बनाने के सन्दर्भ में) उन सब पर मैं लगातार दो-ढाई बरस सोच-विचार करता रहा और जब पिछले अप्रैल में मैंने इसे समाप्त किया तो जहाँ तक मैं समझता हूँ, पुराने नाटक के गुणों को बरकरार रखते हुए, मैंने इसके काफ़ी दोष दूर कर दिये और इसे यथाशक्य सहज और स्वाभाविक बना दिया।

०

बँगलौर से लौटते वक्त मैं पूना और बम्बई होता हुआ आया और वहाँ मैंने महाराष्ट्र के अपने मित्रों—श्री गो० प० नेने और श्री वसन्तदेव से भी परामर्श किया और वापस इलाहाबाद आ कर नीलाभ और दूधनाथ सिंह को नाटक पढ़ने के लिए दिया। उनके दो-एक सुझाव मैंने मान लिये। विशेषकर यह कि नाटक की थीम के लिए प्राणनाथ का कुरूप होना कोई ज़रूरी नहीं। पुराने नाटक में इस बात का उल्लेख है कि प्राणनाथ के दाँत पीले हैं, उन्हें पायरिया है और वे इलाज की ओर से बेपरवाह हैं। मैं दिखाना यह चाहता था कि अप्पी का प्यार न पाने के कारण उन्होंने ज़िन्दगी जीना छोड़ दिया है। नीलाभ का यह कहना था और दूधनाथ उससे सहमत थे कि इस प्रसंग से बेकार की जुगुप्सा उपजती है। यह बात बिना इस ब्योरे के भी दिखायी जा सकती है और मैं मान गया।

नाटक का अन्तिम वर्शन मैंने माथुर साहब को भेजा; यद्यपि उन्होंने बहुत-से परिवर्तनों को सराहा, लेकिन मैंने नाटक में जो नये पात्र बढ़ाये हैं, वे उन्हें ग़ैर-ज़रूरी लगे। दो-एक जगह प्रवेशों और प्रस्थानों के सन्दर्भ में भी (प्रकट ही चार से तीन अंक करने के प्रयास में) उनका ख़याल था कि मुझे समझौता करना पड़ा है। एक जगह पुनरावृत्ति दोष की भी उन्होंने शिकायत की।...मैंने नाटक को फिर से देखा। पुनरा-वृत्ति और प्रवेश-प्रस्थान के दोष यथाशक्य मैंने दूर कर दिये, लेकिन जो दो नये पात्र मैंने जोड़े, उनकी ज़रूरत मैं शुरू से ही समझता आया हूँ। 'प्रयाग रंगमंच' पर जब नाटक हुआ था, तब भी मुझे वहाँ उनकी ज़रूरत महसूस हुई थी और इसलिए मैंने उन्हें नहीं छेड़ा।

माथुर साहब को 'क़ैद' का अन्त अच्छा लगता था। सच्ची बात यह है कि मुझे भी लगता था। लेकिन एक बार वर्तमान नाटक के अन्त का प्रभाव मंच पर देख लेने के बाद वह पुराना अन्त मैं नहीं दे सका। बस 'प्रयाग रंगमंच' वाले अन्त और प्रस्तुत नाटक के अन्त में इतना ही सूक्ष्म अन्तर है कि इसमें मैंने बहुत ही सूक्ष्म ढंग से पुराने अन्त की बात भी जोड़ दी है।

बात यह है कि पहले वर्शन में जो प्रमुख दोष था, वह उसकी रोमानियत थी। रोमान ज़िन्दगी का ही अंग है और इस से मुझे गुरेज़ भी नहीं। लेकिन वह ज़िन्दगी को ले कर होना चाहिए, उसे बाद दे कर नहीं। एक मिसाल दे कर मैं अपनी बात समझाना चाहूँगा। राकेश का नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' मुझे बहुत पसन्द है। लेकिन जब भी मैंने उसे पढ़ा अथवा मंच पर देखा, मुझे उसका तीसरा अंक इसी दृष्टि से कमज़ोर लगा। क्या कोई कल्पना कर सकता है कि कालिदास-सा महान कवि, अपने अधिकांश महान ग्रन्थ लिख चुकने के बाद भी इतना तक न जानेगा कि उसकी प्रेयसी गाँव के उस मकान में वैसी ही उसकी प्रतीक्षा में बैठी नहीं रह सकती, लेकिन 'आषाढ़ का एक दिन' में (मेरे पास उसका पहला संस्करण है और वही मैंने मंच पर भी देखा था) महाकवि कालिदास कॉलेज के किसी किशोर की तरह यही सोचता हुआ आँधी-पानी में बढ़ा आता है। फिर मल्लिका कालिदास के प्रतिद्वन्द्वी विलोम को तन तो बेचती है, उससे शादी नहीं करती। मैंने जब भी इसे पढ़ा, मुझे लगा कि यह ज़िन्दगी को बाद दे कर लिखा गया प्रसंग है। जो लोग ज़िन्दगी को खुली आँखों देखते हैं, वे जानते हैं कि जो औरत किसी मर्द के साथ सोती है (भले ही धन ले कर) और वह मर्द यदि उससे प्रेम करता है और चाहता है तो वह उससे विवाह करने से इन्कार नहीं कर सकती। फिर सच्ची बात यह है कि प्रेमी की अनुपस्थिति प्रायः प्रतिद्वन्द्वी का मार्ग आसान कर दिया करती है। मैं जानता हूँ, नेमिचन्द्र जैन और सुरेश अवस्थी जैसे आलोचक, जो आर्ट का कमाल ज़िन्दगी से पलायन समझते हैं, 'आषाढ़ का एक दिन' के इस नुक्ते पर बेतरह फ़िदा हैं, लेकिन जो लेखक कला में ज़िन्दगी का प्रतिबिम्ब देखना चाहता है, वह इतने से सन्तुष्ट नहीं हो सकता। ज़िन्दगी से पलायन कर के कला के ऐसे नुक्ते पेश करना कठिन नहीं है, ऐसे प्रेम के फ़ार्मूले हैं; कठिन है ज़िन्दगी को कला में उतारते हुए ऐसा करना, क्योंकि ज़िन्दगी अनप्रिडिक्टेबल है और प्रायः फ़ार्मूलों में नहीं

बँधती ।....'क़ैद' के सन्दर्भ में इतना ही कि उस में कुछ ऐसी ही अयथार्थता थी—विशेषकर उसके अन्त में—अपने पति की उस अपार अण्डरस्टैंडिग को देख लेने के बाद भी अपने दो प्यारे बच्चों को भूल कर अप्पी वैसे ही बुझ जाती है, जैसे कि नाटक के शुरू में बुझी हुई दिखाई दी थी । रोमान-पसन्द पाठकों को 'आषाढ़ का एक दिन' के उस प्रसंग की तरह वह अन्त बहुत अच्छा लगता है । मुझे भी, जैसा कि मैंने कहा, वह अच्छा लगता रहा है, लेकिन मैं समझता हूँ, एक बड़े हल्के-से परिवर्तन से मैंने उसका दोष निकाल दिया है । अप्पी की भयंकर निराशा को दिखाते हुए भी मैंने संकेत दिया है कि वह जीवन को एकदम नकारेगी नहीं । हालाँकि माथुर साहब को अभी भी पहला ही अन्त पसन्द है, लेकिन मैं समझता हूँ कि अब नाटक का अन्त अपेक्षाकृत यथार्थ और नाट्योचित हो गया है ।

बात यह है कि ज़िन्दगी जिस चीज़ का नाम है, उसका अपना तर्क होता है । वह बेतरह एसर्ट करती है । मैंने नाटक के इस वर्शन में ज़िन्दगी की उस एसर्शन का हल्का-सा संकेत अन्त में दे दिया है । गहरी आँख से पढ़ने वाले जान लेंगे कि ट्रैजिडी इस से कम नहीं हुई और भी गहरा गयी है ।...मैं यह दावा नहीं करता कि इस तमाम संशोधन-परिवर्तन के बाद नाटक एकदम दोष रहित हो गया है । ऐसा दावा करना ग़लत होगा । क्योंकि गुण और दोष प्रायः सापेक्ष्य होते हैं । पुराने नाटक में जो बातें मुझे दोष लगती हैं, वे अब भी कई मित्रों को गुण लगती हैं । (माथुर साहब का मैं उल्लेख कर ही चुका हूँ और कुछ दूसरे पाठक भी उनसे सहमत हैं ।) लेकिन मैंने यह देखा है कि जिन मित्रों ने 'क़ैद' नहीं पढ़ा और सिर्फ़ 'लौटता हुआ दिन' ही पढ़ा, उन्हें यह बहुत अच्छा लगा । फिर यह बात भी अपनी जगह ठीक है कि रचनाएँ कई वार छोटे-मोटे दोषों के बावजूद सफल होती हैं और नख से शिख तक दुरुस्त होने के बावजूद असफल । हो सकता है कि नये वर्शन में कोई और दोष आ गया हो, जो आज मुझे नाटक के एकदम निकट होने के कारण

नज़र न आ रहा हो।....मैं सिर्फ़ इतना ही कह सकता हूँ कि फ़िलहाल मैं नाटक से पूर्णतः सन्तुष्ट हूँ।

०

जब मैंने नाटक को उर्दू से हिन्दी में किया था, तो इसके नाम को ले कर मुझे बड़ी उलझन हुई थी। उर्दू में इसका नाम 'क़ैदे-हयात' था और जैसा कि मैंने कहा, यह ग़ालिब के प्रसिद्ध शेर 'क़ैदे-हयातो-बन्दे-ग़म' को पूर्णतः रूपायित करता था। इसका नाम हिन्दी में भी वही होना चाहिए था। लेकिन हिन्दी में मुझे 'क़ैदे-हयात' का ठीक पर्याय नहीं मिला। 'जीवन-कारा !' लेकिन जीवन-कारा आध्यात्मिक ज़्यादा लगता था और यथार्थ जीवन से सम्बन्धित कम। तब मैंने 'हयात' काट दिया और सिर्फ़ 'क़ैद' रहने दिया। यह ठीक है कि 'क़ैदे-हयात' नाम व्यापक संदर्भों को छूता था, क्योंकि वह सभी पात्रों के जीवन की ट्रैजिडी को संकेतित करता था और 'क़ैद' केवल अप्पी के जीवन की ट्रैजिडी को, लेकिन थीम के निकटतम जान कर मैंने वही नाम दे दिया।

प्रस्तुत वर्शन जब अन्तिम रूप में सामने आया तो मुझे इसका नाम न 'क़ैद' ठीक लगा, न क़ैदे-हयात,' इसीलिए मैंने इसका नाम बदल दिया। ऊपरी दृष्टि से दोनों वर्शन पढ़ने वालों को शायद दोनों में कोई विशेष अन्तर न दिखायी दे, लेकिन बारीक नज़र से पढ़ने वालों को, जैसा कि मैंने शुरू में कहा, ऐसा सूक्ष्म लेकिन यकीनी अन्तर दिखायी देगा, जिसने थीम को ज़रा-सा बदल दिया है और नाटक ज़िन्दगी के निकटतर हो गया है।

दिलीप के आगमन के साथ अप्पी के जीवन में मानो पुराना दिन लौट आता है—वह अपनी पुरानी ज़िन्दगी को याद ही नहीं करती, उसे जीती भी है, लेकिन दिलीप के प्रस्थान के साथ ही वह दिन लौट जाता है और अप्पी को तृषित और उदास, अपनी ज़िन्दगी जीने के लिए छोड़ जाता है और यूँ मैंने नाटक का नाम रखा—'लौटता हुआ दिन।'

इलाहाबाद, २५-२-७२ **उपेन्द्रनाथ अश्क**

लौटता हुआ दिन

पात्र

[जिस क्रम से कि दे नाटक में प्रवेश करते हैं ।]

●

अप्पी : पच्चीस-छब्बीस वर्ष की सुन्दर युवती ।

निम्मो : उसकी छै-साढ़े-छै वर्ष की सुन्दर चंचल लड़की ।

दीशी : उसका साढ़े सात-आठ वर्ष का लड़का ।

पार्वती : पैंतीस-चालीस वर्ष की पतली-छरहरी नौकरानी ।

प्राणनाथ : अप्पी का पति । उम्र चालीस-पैंतालीस ।

किशन सिंह : अप्पी के साथ मायके से आया हुआ बूढ़ा नौकर ।

मुनीम : प्राणनाथ का मुनीम ।

कुन्तल : प्राणनाथ के बड़े भाई लाला दीवानचन्द की बहू । दिलीप की चचेरी बहन । अप्पी की पुरानी सहेली ।

गोपाल : कुन्तल का पति ।

दिलीप : अट्ठाइस-तीस वर्ष का बेपरवाह युवक । दिल्ली रेडियो में आर्टिस्ट । कवि ।

वाणी : दिलीप के साथ रेडियो में काम करने वाली आर्टिस्ट । उसकी नयी प्रेयसी ।

हरि
व्यास
किशोर : दिल्ली के युवक मित्र, जो दिल्ली में अध्यापक हैं । उसके साथ कश्मीर में बर्फ़ गिरती देखने आये हैं ।

परिवेश

•

नाटक का सारा कार्य-व्यापार अखनूर के एक धनी-मानी व्यापारी, लाला प्राणनाथ की हवेली के एक बड़े कमरे में होता है।

अखनूर का कस्बा बहुत पुराना है। जम्मू से अठारह मील दूर, समुद्र-तट से २००० फुट ऊँची पहाड़ी पर, चनाब नदी के किनारे बसा है। यहीं नदी पहाड़ों से उतर कर मैदानों में प्रवेश करती है। उसके पुल पर से हो कर जम्मू से आने वाली सड़क कस्बे को जाती है। पुल के बायीं ओर नदी पर बाँध बना है, जिससे एक नहर निकलती है, जो सड़क के साथ-साथ जम्मू तक चली गयी है।

कस्बे के तीन तरफ़ हिमालय की गिरिमालाएँ हैं, जो उत्तरोत्तर ऊँची होती हुई हिम-मण्डित शिखरों से जा मिली हैं। चौथी ओर नदी बहती है, जिसका पानी न केवल कस्बे के निवासियों के नहाने-धोने के काम आता है, वरन् उसी से वे अपनी और अपने खेतों की प्यास बुझाते हैं।

लाला प्राणनाथ की हवेली कस्बे के बड़े बाज़ार में ऊँची जगह बनी है। तिमंज़िली है। मुख्य दरवाज़ा निचली बैठक को जाता है, जो बाज़ार में खुलती है और पिछला एक गली में। दोनों ओर सीढ़ियाँ हैं।

हवेली पुरानी है। प्राणनाथ को अपने पुरखों से विरसे में मिली है, जिन्होंने साहूकारे में बाज़ार की आधी दुकानों पर अपना अधिकार कर लिया था, लेकिन अब अन्दर और बाहर—दोनों तरफ़ से—वह इस बात का एहसास दिला देती है कि उसके वर्तमान स्वामी उसे सराय-समान समझते हैं और उसमें रहते हुए भी जैसे नहीं रहते।

पर्दा हवेली के जिस बड़े कमरे में उठता है, वह खुला, हवादार और रोशन है। सामने दीवार में बीचोंबीच एक बड़ा दरवाज़ा है, जो आँगन के बारजे पर खुलता है। बारजा कमरे से ज़रा ऊँचा है, इसलिए दरवाज़े के साथ सीढ़ी बनी है। बारजा बायीं ओर रसोई-घर को चला गया है। उधर ही, ऊपर बारहदरी को जाने वाली और नीचे पिछली डेवढ़ी में उतरने वाली सीढ़ियाँ हैं। दायीं ओर को बारजा स्नानगृह और दूसरे कमरों को जाता है। दरवाज़े से बारजे का जँगला और परे नीले आकाश में उठी हुई वैष्णव देवी की तीनों चोटियाँ दिखायी देती हैं।

दरवाज़े की दायीं ओर, दीवार में लगी रंगीन खूँटियों पर कपड़े टँगे हैं। बायीं ओर दरवाज़े के बराबर दीवार से लगा एक चर्ख़ा पड़ा है, जिसके ऊपर खूँटी पर अटेरन टँगी है। परे कोने में एक मोरी है, जिस पर खुरा बना है। उसके साथ बाल्टी और लोटा पड़ा है। चर्ख़े और नाली के मध्य दीवार के साथ चार ईंटों पर, एक-पर-एक दो ट्रंक रखे हैं, जिनके ऊपर काले और सफ़ेद पट्टू तहाये और बेतहाये पड़े हैं और उन सब पर गोल-मोल कर फेंका हुआ एक पलँगपोश। नाली के ऊपर छत पर अलगना है, जिस पर रज़ाइयाँ-दुलाइयाँ अव्यवस्थित एक-दूसरी के ऊपर टँगी हुई हैं।

अलगने के इधर बायीं दीवार में बीचोंबीच एक बड़ी मेहराबदार खिड़की है, जिससे नदी का बड़ा ही सुन्दर दृश्य दिखायी देता है। मंच के किनारे की ओर एक दरवाज़ा है, जो अन्दर कमरे को जाता है। खिड़की और दरवाज़े के बीच एक अलमारी रखी है, जिसके पट किसी बेहया की निःसंकोच आँखों की तरह चौपाट खुले हैं। अलमारी के ख़ानों में टॉयलेट से ले कर सीने-पिरोने तक, दुनिया-जहान का सामान गडमड पड़ा है और मिट्टी की एक हल्की-सी परत उन सब पर जम गयी है।

दायीं दीवार में, मंच की ओर को, एक दरवाज़ा है, जो बाज़ार

की सीढ़ियों को जाता है। उससे ज़रा हट कर, दीवार के साथ एक पलँग बिछा है, जिसकी चादरें यद्यपि कश्मीरी सिल्क की हैं और उनके चारों किनारों पर बारीक कसीदे से फूल बने हुए हैं, लेकिन लगता है, जैसे हफ़्तों से उनको साबुन का स्पर्श नहीं मिला। यही हाल लिहाफ़ और तकियों के गिलाफ़ों का है। दरवाज़े की चौखट के ऊपर तथा पलँग के बराबर दीवार में एक बड़ा-सा ताख है, जिसमें गणेश और लक्ष्मी की मिट्टी की मूर्तियाँ रखी हैं। वैसा ही एक ताख पलँग के सिरहाने की ओर दीवार में बना है, जिसमें राधाकृष्ण की मूर्ति है। ऊपर दीवार पर आठ साल पहले शादी के वक़्त का प्राणनाथ और अप्पी का बड़ा-सा फ़ोटो है। अप्पी कुर्सी पर बैठी है और प्राणनाथ बायाँ हाथ उसके कन्धे पर रखे उसके साथ खड़े हैं। अप्पी ने अपने सुन्दर मुखड़े पर ज़रा-सा घूँघट खींच लिया है, जो उसकी सुन्दरता को और भी बढ़ाता है। प्राणनाथ बन्द गले का कोट पहने और घुटी हुई पगड़ी सिर पर बाँधे चाक-चौबन्द खड़े हैं। चूँकि होंठ उनके बन्द हैं, इसलिए बुरे नहीं लगते। उनके चेहरे पर कुछ अजीब-सा गर्व और हुलास है, जो चेहरे-मोहरे की साधारणता के बावजूद आकर्षित करता है।

पलँग के साथ एक और चारपाई बिछी है, जिसका बिस्तर आधा उलट दिया गया है।

इन दोनों चारपाइयों और बायीं ओर की खिड़की के बीच एक तिपाई और दो आराम-कुर्सियाँ अस्तव्यस्त पड़ी हैं। रंगमंच के किनारे, अन्दर कमरे को जाने वाले दरवाज़े के सामने एक चौकी और उसके दोनों ओर दो पीढ़े पड़े हैं। तीनों पर बच्चों की किताबें और कापियाँ उल्टी-पल्टी पड़ी हैं। इस फ़र्निचर के अलावा कमरे में जो जगह ख़ाली है, उसमें बच्चों के खिलौने बिखरे पड़े हैं।

नाटक के दौरान चूँकि प्रायः रंगमंच पर दो-तीन व्यक्तियों से ज़्यादा नहीं रहते—विशेषकर दूसरे अंक में—और कई बार आधा

मंच ख़ाली रहता है, इसलिए जब अभिनेता ज़्यादा वक्त मंच के एक हिस्से में रहते हैं तो रोशनी केवल उन्हीं पर केन्द्रित रहती है और शेष मंच अँधेरे में रहता है।

'प्रयाग रंगमंच' ने जब इस नाटक को मंच पर उतारा था तो बारजा अलग कर दिया था और बाहर और अन्दर से आने-जाने वाले दरवाज़े बारजे को जाने वाली सीढ़ियों के दायें-बायें दीवारों में कमरे के अन्दर ही रखे थे। निर्देशक अपनी सुविधानुसार मंच की सेटिंग में परिवर्तन कर सकते हैं।

●

पहला अंक

•

सन् १६४१ के दिसम्बर की एक सुबह। पर्दा लाला प्राणनाथ की हवेली के बड़े कमरे में उठता है। यद्यपि सुबह के साढ़े नौ का समय है, पर कमरे की खिड़की और दरवाज़े बन्द हैं। अन्दर घोर अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता है, जिस कारण वह खुला, हवादार और रोशन कमरा—सँकरा, दम घोंटने वाला और अँधेरा-सा दिखायी देता है। लेकिन दिन काफ़ी चढ़ आया है, इसलिए बन्द किवाड़ों के बावजूद, कमरे में रोशनी फैल गयी है।

पलँग पर अप्पी सीने तक लिहाफ़ ओढ़े लेटी हुई है, पर साफ़ प्रकट होता है कि सोयी हुई नहीं, क्योंकि पर्दा उठने के बाद वह दो-एक बार कुनमुनाती और करवट बदलती है।

तभी बड़े दरवाज़े को पटाख से खोलते हुए निम्मो और दीशी एक-दूसरे के पीछे धड़धड़ाते प्रवेश करते हैं। निम्मो भाग कर दूसरी चारपाई के पायँते जा खड़ी होती है और दीशी सिरहाने रुक कर इस ताक में है कि वह जिधर को जाय, उधर ही को लपके।

निम्मो और दीशी की उमर में एक-डेढ़ वर्ष का अन्तर है। निम्मो छै-साढ़े छै वर्ष की है और दीशी साढ़े सात-आठ वर्ष का। लेकिन दोनों समवयस्क लगते हैं। दोनों सुन्दर हैं। लेकिन इस वक्त दोनों के कपड़े मैले हैं और चेहरे गन्दे हैं। निम्मो के दायें हाथ में एक गेंद है, जिसे वह सीने से चिमटाये हुए इस फेर में है कि भाई को चकमा दे कर फिर निकल जाय। लेकिन इससे पहले कि वह किसी तरफ़ को भागे, दीशी चारपाई पर कूद कर उसे पकड़ने की कोशिश करता है। निम्मो बायीं ओर से भागने की कोशिश में कुर्सी उलट देती है और गिर जाती है। दीशी उसे जा दबोचता है।

यह सब पलक झपकते हो जाता है। दरवाज़ा पटाख़ से खुलने पर अप्पी चौंकती है, पर उठती नहीं। करवट बदल कर लेटी रहती है, लेकिन दीशी और निम्मो लड़ने लगते हैं।

दीशी : **(उससे गेंद छीनने का प्रयास करते हुए)** मेरा गेंद...दे मेरा गेंद!

निम्मो : **(फ़र्श पर औंधी लेटी, गेंद को बायीं बग़ल में दबाती हुई)** क्यों, हम न खेलेंगे!

दीशी : तू मेरे गेंद से क्यों खेलेगी? मैं तेरी गुड़िया से खेलता हूँ?

बलपूर्वक गेंद छीन लेता है।

निम्मो : **(उठ कर उससे गेंद छीनने की कोशिश करती है। नहीं छीन पाती तो पीटती है)** दे गेंद...दे...दे...

दीशी : **(बदले में उसे पीटता हुआ)** ले...ले...यह ले...फिर पीटेगी!

निम्मो रोने लगती है।

अप्पी : (महज़ करवट बदल कर, चिड़चिड़ाहट-भरे स्वर में नौकरों को आवाज़ देती है) पार्वती...किशन सिंह...!

अप्पी पच्चीस-छब्बीस वर्ष की सुन्दर युवती है। गोरा रंग, नुकीला चेहरा, पतले होंठ, बड़ी-बड़ी आँखें और चौड़ा माथा। लेकिन इस वक्त उस पर कुछ अजीब-सी थकन, उदासी, ऊबाहट और बेज़ारी छायी है, जिससे ऊपर लगी तस्वीर का खिला-खिला चेहरा कुछ बेतरह मुरझाया हुआ और असमय प्रौढ़ लगता है। उसकी चिल्लाहट के जवाब में कोई आवाज़ नहीं आती। निम्मो रोती हुई दाँत किचकिचा कर फिर दीशी से लिपट जाती है।

— : (ऊबे, थके तथा और भी चिढ़े स्वर में) अरे कोई है ! निकाले इन कमबख्तों को मेरे कमरे के बाहर। पल भर का चैन हराम हो गया है इन दुष्टों के मारे। भगवान ऐसी सन्तान दुश्मन को भी न दे।

पार्वती किचन ही से भागी आती है।

पेंतिस-चालिस वर्ष की पतली-छरहरी औरत। रंग गोरा। तन पर साधारण साड़ी-ब्लाउज़ और मोटे ऊन का स्वेटर।

आ कर दोनों बच्चों को अलग करती है।

पार्वती : चलो दीशी, ऊपर छत पर खेलो। तुम्हारी माँ की तबियत ठीक नहीं।

दीशी गेंद लिये हुए जाने लगता है कि निम्मो उससे लिपट जाती है। गेंद लेने के प्रयास में उसे पीटती है।

प्राणनाथ बाहर के दरवाज़े से प्रवेश करते हैं। चालिस-पैंतालिस वर्ष के ऊँचे-लम्बे भारी-भरकम आदमी हैं। कमीज़-पायजामे पर पट्टी की वास्केट और बन्द गले का पट्टी ही का कोट। सिर पर पगड़ी। कोट के बटन खुले हैं, जिससे वास्केट और कमीज़ के कॉलर दिखायी देते हैं।

प्राणनाथ भारी-भरकम ज़रूर हैं, लेकिन सुडौल और हृष्ट-पुष्ट उन्हें नहीं कहा जा सकता। उनके शरीर ने, लगता है, जैसे अन्यमनस्क हो कर, मांस छोड़ दिया है। उनकी चाल में कुछ अजीब-सी शिथिलता है। कपड़े भी उनके किंचित मैले और ढीले-ढाले हैं। रंग ज़रूर गोरा है, लेकिन वे सुन्दर नहीं हैं, बल्कि उन्हें कुरूप ही कहा जा सकता है। उनके दाँत कुछ बाहर को निकले हुए हैं। चेहरा चौड़ा है। आँखें मोटी, लेकिन निष्प्रभ और उनके चेहरे पर अस्पष्ट-सी रुखाई और उदासीनता है। चित्र के प्रसन्न और गर्वीले प्राणनाथ और इस बुझे और थके प्राणनाथ में जो अन्तर आठ वर्षों में आ गया है, वह पहली ही नज़र में दिखायी दे जाता है। उनका व्यक्तित्व कमरे का अभिन्न अंग लगता है। कुछ वैसी ही अव्यवस्था और शैथिल्य उनके यहाँ भी दिखायी देता है। लेकिन उनकी बोली बहुत मीठी है। मीठी, धीमी और गम्भीर। जब वे बात करते हैं तो उनके चेहरे की वह रुखाई न जाने कहाँ तिरोहित हो जाती

है और उनके स्वर में अरमान-भरी उदासी छा जाती है ।

प्राणनाथ : (**कमरे के अन्दर आते ही दबे, लेकिन कठोर स्वर में**) निम्मो, क्यों बड़े भाई को पीट रही है !...(**जा कर उन्हें अलग-अलग कर देते हैं**) जाओ, नीचे जा कर खेलो ! (**पार्वती से**) पार्वती इन्हें ले जाओ ! मैंने कहा था—बहू सोयी है, इधर मत आने देना इन्हें ।

पार्वती : मैं तो उधर रसोई में थी लाला जी । अच्छे-भले ये नीचे आँगन में खेल रहे थे कि निम्मो गेंद ले कर भाग आयी...।

निम्मो : हमको नहीं खिलाता दीशी ।

प्राणनाथ : तू जा कर अपनी गुड़िया से खेल बेटी । लग-लगा जायगा गेंद तेरे तो फिर रोयेगी । (**दोनों की पीठ थपथपाते हुए**) जाओ जाओ, यहाँ शोर न मचाओ !

पार्वती दोनों को ले कर चली जाती है ।
प्राणनाथ अप्पी के बिस्तर की ओर पलटते हैं ।

— : क्यों जी, अभी तक लेटी हुई हो । तबियत फिर क्या कुछ ख़राब है आज ?

अप्पी : (**दुपट्टा सिर पर लेती है, उठने का प्रयास करती है, लेकिन उठती नहीं, तकिये के सहारे ज़रा अधलेटी हो जाती है**) नहीं, ठीक हूँ । सिर में हल्का-हल्का दर्द था । शरीर कुछ टूट-सा रहा था । उठी थी, फिर लेट गयी ।

प्राणनाथ उसके सिरहाने पलंग पर बैठ जाते हैं और धीरे-धीरे उसके बालों पर हाथ फेरते हैं ।

प्राणनाथ : (**लम्बी साँस लेते हुए**) वो दिन कितनी खुशी का होगा अप्पो, जब मैं तुम्हें पूरी तरह स्वस्थ देखूँगा । पेट-दर्द, कमर-दर्द, सिर-दर्द—कोई-न-कोई दर्द लगा ही रहता है तुम्हें !

अप्पी : (**पति के हाथ को परे हटाते हुए**) अब बीमारी पर आदमी का क्या बस है ?

प्रकट ही उसका यूँ हाथ को झटक देना उन्हें अच्छा नहीं लगता, पर बिना कुछ भी प्रतिरोध किये, वे चुपचाप उठते हैं ।

प्राणनाथ : लेकिन जहाँ रोग है, वहाँ इलाज भी तो है। तुम्हारी बीमारी का तो कोई इलाज ही नहीं। काश ! तुम्हारे दर्द की दवा मेरे पास होती ।

साथ की चारपाई पर बैठ जाते हैं ।

अप्पी : आप भी...मैं तो...लेकिन आज...

उठने की कोशिश करती है; शलवार कमीज़ ठीक करती है, पर लेटी रहती है ।

प्राणनाथ : (**पगड़ी उतार कर चारपाई पर रखते तथा और भी लम्बी साँस भरते हुए**) काश ! मैं तुम्हें ख़ुश रख सकता ।

अप्पी : भला मुझे क्या हुआ है । बड़ी ख़ुश हूँ, जैसी हूँ ।

प्राणनाथ : ख़ुश हो ! (**व्यंग्य-भरी दर्दीली मुस्कान उनके होंठों पर फैल जाती है**) ख़ुशी का कोई चिह्न तो तुम्हारे चेहरे पर दिखायी नहीं देता ।

सिर पर हाथ फेरते हुए फिर पगड़ी सिर पर रख लेते हैं, उठ कर बिस्तर को गोल कर देते हैं और उसे उठा कर अन्दर कमरे में रख आते हैं ।

— : (**वापस आते हुए**) मुझे सावन की वह शाम याद है जब दिप्पो की मौत के बाद मैं दिल्ली गया था । (**आकर चारपाई की पट्टी पर बैठ जाते हैं**) तुम्हीं ने कुतुब चलने का प्रस्ताव किया था । मैं, कुन्तल, तुम और दिलीप—चारों कुतुब देखने गये थे । उन दिनों कितनी ख़ुश थीं तुम—

कितनी चंचल और चपल ! आज़ाद हवा-सी उड़ा करती थीं।

उठ कर चारपाई को आड़ी खड़ी कर देते हैं।

प्राणनाथ : (**खड़ी चारपाई की पट्टी पर कुहनी टिकाये**) हँसते-हँसते लोट-पोट हो जाती थीं और तुम्हारे गालों के गुलाब भी हर घड़ी खिले रहते थे। (**फिर लम्बी साँस भरते हैं**) यहाँ आ कर जाने ये क्यों मुरझा गये !

चारपाई उठा कर बालकनी तक ले जाते हैं और वहीं से नौकर को आवाज़ देते हैं :

— : किशन सिंह ! किशन सिंह !

किशन सिंह : (**नीचे आँगन से जवाब देता है**) जी लाला जी !

प्राणनाथ : यह चारपाई उठा कर रख उधर गलियारे में !

अप्पी उनकी बात का कोई उत्तर नहीं देती। प्राणनाथ वापस आते हैं। औंधी कुर्सी उठा कर उसे घसीटते हुए अप्पी के पलँग के पास ले आते हैं। लेकिन बैठते नहीं। कुर्सी की पीठ पर हाथ रखे, खड़े रहते हैं।

— : और मैं समझता था, यहाँ आ कर इनकी लाली और भी बढ़ जायगी। (**बड़े दरवाज़े में देखते हुए**) यह मनमोहक फ़िज़ा, यह खुली हवा (**देखते हैं कि खिड़की बन्द है, जा कर उसे खोल देते हैं। क्षण भर बाहर देखते हैं** · ये फैले-फैले पहाड़, यह बहता दरिया ! (**पलट कर अप्पी की ओर देखते हुए**) सोचता था, शाम-सवेरे हम सैर को जाया करेंगे।

अप्पी : आप जाते ही नहीं, मैं कितनी बार कह चुकी हूँ।

प्राणनाथ : मैं नहीं जाता ! (**व्यंग्य से हँसते हुए कमरे में घूमते हैं**) मैं सैर को जाया करता था, जब तुम्हारी बहन ज़िन्दा थी और मैं अखनूर की आर्य युवक सभा का मन्त्री था।

मेरी कविताएँ समाज की सभाओं में गूँजती थीं। न जाने मैंने अखनूर की इस अनुपम सुन्दरता और इस छोटे-से कस्बे पर भगवान की अतुल कृपा को ले कर कितनी कविताएँ लिखी हैं। इसके नदी-नालों, घाटियों और जंगलों में न जाने मेरे पैरों के कितने निशान अंकित हैं।

अप्पी : आप अब भी जा सकते हैं। आपको फ़ुर्सत भी मिले।

फिर पसर जाती है और रज़ाई सीने तक खींच लेती है।

प्राणनाथ : (**खिड़की में जा कर खड़े हो जाते हैं और उसकी सिल पर कुहनी टिका कर अप्पी की ओर मुड़ कर कहते हैं**) फ़ुर्सत ! (**उसी दर्द-भरे व्यंग्य से हँसते हैं**) तुम्हारे आने के बाद, तुम्हें याद भी नहीं, मैंने तुम्हारे साथ सैर को जाने की कोशिश की थी—(**मुड़ कर नदी पर निगाहें टिकाये**) सूरज निकलने से ज़रा पहले नदी के नीले जल में कमल के बड़े-बड़े पत्तों ऐसे पीले-पीले सुनहरी घेरे बनते-मिटते चले जाते। उधर सूरज की पहली किरण झाँकती, इधर उस पीलेपन पर लाली दौड़ जाती। (**कुछ क्षण चुपचाप नदी की ओर देखते रहते हैं, फिर पलट कर**) सुबह की उस निखरी-धुली, कुँवारी फ़िज़ा में मन कुछ अजीब उल्लास से भर उठता। लगता, न जाने धरती ने कितनी लम्बी नींद के बाद जैसे पहली बार आँखें खोली हैं और सिर्फ़ हमीं दो उस जागते सौन्दर्य को देखने पहुँच गये हैं। (**मुड़कर धीरे-धीरे शब्दों पर ज़ोर दे कर**) लेकिन यह मेरी भूल थी। दो नहीं, उस अछूते सौन्दर्य के दर्शन करने वाला तो मैं—सिर्फ़ मैं अकेला होता। तुम तो न जाने कहाँ होतीं। गुम-सुम-सी बैठी, न जाने अतीत का कौन सा सपना देखा करतीं। फिर मैं सैर-सपाटा छोड़

कर क्यों न कारबार में मन लगाने का प्रयास करता ! लाला जी कहा करते थे, 'तुम्हारी कविता हमें ले डूबेगी।' कारबार तो चौपट हो ही गया था। सोचा, मेरी आत्मा न सही, उनकी आत्मा तो सुखी हो और इन पिछले कुछेक वर्षों में दिन-रात मेहनत करके मैं उसे फिर ढर्रे पर ले आया हूँ।

अप्पी : (**करवट बदल कर**) मुझे मेरे हाल पर छोड़िए। आप जाया कीजिए। दीशी और निम्मो को ले जाया कीजिए।

प्राणनाथ : दीशी और निम्मो...(**फिर खिड़की की ओर जाते हुए उसी दर्द से हँसते हैं**) अब तो वर्षों से कभी सैर को जाने की इच्छा ही नहीं होती। अपनी तमाम बेचैनी मैंने काम में डुबो दी है। नदी, नालों और पहाड़ों की सुन्दरता को मैंने भुला दिया है। देख कर भी मैं नहीं देखता। कुछ अजीब-सी शिथिलता मन-प्राण पर छायी रहती है। (**क्षण भर फिर खिड़की में से नीचे बहने वाली नदी को तकते रहते हैं**) ज़िन्दगी सर्दियों के इसी चनाब की तरह अपनी जवानी खो चुकी है—कैसा सूखा-सिमटा, खोया-खोया, निःशब्द बह रहा है ! जाने इसे अपनी जवानी की याद भी आती है या नहीं, (**मुड़ कर अप्पी की चारपाई की तरफ़ आते हुए**) मैं तो लगभग भूल ही गया हूँ। यह तो दिलीप के आने की खबर सुन कर कुछ पुरानी यादें ताज़ी हो गयीं, नहीं...

लम्बी साँस भर कर कुर्सी पर बैठ जाते हैं। पगड़ी उतार कर कुर्सी की बाँह पर रख देते हैं और दर्शकों के ऊपर कहीं शून्य में देखने लगते हैं।

दिलीप का नाम सुन कर अप्पी सहसा चौंक कर उठ बैठती है ।

अप्पी : दिलीप !...कौन दिलीप ? हमारे दिलीप जी ?...(**उसका मुख सहसा खिल उठता है और आँखों में चमक आ जाती है । प्राणनाथ गहरी निगाहों से उसकी ओर देखते हैं और दिलीप के नाम भर से उनकी पत्नी के चेहरे पर जो चमक आ जाती है, उन्हें अनायास और भी उदास कर जाती है । अप्पी उन निगाहों की ताब नहीं ला पाती और अपने अस्वस्ति बोध को मिटाने के लिए मुखर हो कर कहती है**) यहाँ आये हैं क्या ? पहले क्यों नहीं बताया आपने ?

सहसा पलँग से उठ कर खड़ी हो जाती है ।—आसमानी रंग की रेशमी कमीज़-शलवार, उस पर कश्मीरी वास्केट और नीली जार्जेट का दुपट्टा । कानों में एक-एक मोती के टाप्स और हाथों में एक-एक चूड़ी ।—बेचैनी से कमीज़ का दामन और शलवार की सिलवटें ठीक करती है ।

प्राणनाथ : (**निगाहें फिरा कर शून्य में देखने लगते हैं और जैसे उसी दूरी से जवाब देते हैं**) सुना है, जम्मू आया है ।

अप्पी : (**फिर वहीं पलँग पर बैठ जाती है**) जम्मू क्यों आये ? आपको कैसे पता चला ?

प्राणनाथ : (**उसके प्रश्न का उत्तर नहीं देते । वहीं शून्य में देखते हुए**) कभी-कभी सोचा करता हूँ अप्पी—पिछले कुछ वर्षों से लगातार सोचता आया हूँ—यदि मैं तुम्हारी बहन की मृत्यु के बाद दिल्ली न गया होता तो तुम्हारी हँसी-खुशी का सोता यूँ अनायास न सूख जाता और मेरी ज़िन्दगी के पहाड़ों पर भी यूँ गहरे धुँधलके न छा जाते ।

अप्पी : (**अपनी बेचैनी को छिपाने के लिए हाथ मसोसती है**) दिप्पी बहन इतनी अच्छी थीं। उनकी जुदाई किसे न खलती !...मैं पूछती थी कि दिलीप...

प्राणनाथ : (**उन्हीं यादों में खोये हुए**) और तुम्हारी माँ ने कहा था कि अप्पी दिप्पो के दुख को तुम्हारे मन से भुला देगी। वो इतना ज़ोर न देतीं तो मैं कभी न मानता। कभी 'हाँ' न करता।

सिर को ज़ोर से झटका देते हैं। कुहनी लग जाने से पगड़ी फर्श पर गिर पड़ती है। अचकचा कर उसे उठा, सिर पर रख लेते हैं और उठ खड़े होते हैं।

अप्पी : (**सहसा उठ कर उनके पास आ जाती है। चंचल हो कर उनके कन्धे पर बड़े हल्के से दायाँ हाथ रख देती है—मनुहार के स्वर में**) ये आज आप क्या गड़े मुर्दे उखाड़ने लगे हैं। आठ वर्ष हो गये हमारी शादी को। अच्छी-भली चली आ रही है। मैं अगर बीमार न हो जाती...

प्राणनाथ : (**हठात उसकी आँखों में देखते हुए**) तुम यहाँ न आतीं तो कभी बीमार न रहतीं। आज दिलीप के जम्मू आने की ख़बर सुन कर मेरे सामने कुतुब की वही साँझ और उस साँझ की वही अप्पी घूम गयी है।

अप्पी : (**दोनों हाथ उनके कन्धों पर रख देती है**) यह आपको हो क्या गया है ? छोड़िए इस किस्से को ! जी ठीक नहीं था। नहीं मुझे क्या सुख मिलता है दिन-दिन भर लेटे रहने में !...मैं दिलीप की बात पूछ रही थी और आप...

तिनक कर फिर पलँग पर जा बैठती है।

प्राणनाथ : (**उसके पास जा कर उसके कन्धे को थपथपाते हुए**) **अब** तुम यूँ ही रूठी जाती हो। मैंने कभी कुछ कहा है। मेरी

तरफ़ से आठों पहर लेटी रहो। दिलीप के आने की ख़बर सुन कर यूँ ही ख़याल आया कि जम्मू तक आया है तो हो सकता है, यहाँ भी चला आये !

अप्पी : **(पति की ओर टेढ़ी आँख से देखते हुए निहोरे के स्वर में)** यही तो पूछ रही थी पहर भर से, और आप हैं कि बातों का सीधे उत्तर नहीं देते।

प्राणनाथ : **उसके कन्धे से हाथ हटा कर वहीं पलँग के बराबर घूमते** हुए) यही तो बताने आया था...(**कुछ क्षण ख़ामोश घूमते हैं। फिर सहसा उसके सामने रुक कर**) न जाने तुम्हें बीमार और उदास देख कर मन कुछ अजीब-से पश्चाताप से भर जाता है। मैं सोचता हूँ.. मुझे लगता है कि...कि नाहक मैंने ...

वाक्य पूरा नहीं करते और फिर चुपचाप घूमने लगते हैं।

अप्पी : अब तो उठ बैठी हूँ। जी जब ठीक न हो तो...आप दिलीप का बता रहे थे

प्राणनाथ : (**कुछ अजीब-सी उदास मुस्कान, जिसमें न जाने व्यंग्य है या खेद या पश्चाताप, उनके होठों पर खेल जाती है। क्षण भर चुपचाप उसके उत्सुक चेहरे को देखते रहते हैं, फिर जैसे हथियार डाल कर**) रात काशी आया है जम्मू से। उसी ने कहा कि दिलीप जी जम्मू आये हुए हैं। ख़ूब चर्चे हैं उनके तो वहाँ। उनके सम्मान में पार्टियाँ हो रही हैं। कवि-सम्मेलन हुआ है और तीनों स्थानीय पत्रों में उनकी चर्चा है।—मैंने सोचा तुम्हें ख़बर दे दूँ। जम्मू आया है तो हो सकता है कि अखनूर भी आ जाय और घर भूतों का डेरा बना हुआ है। ज़रा पार्वती को बुला कर कमरा ठीक-ठाक करा लो और किशन सिंह से कहो कि यह

व्यर्थ का सामान उठा कर अन्दर कमरे में रखे। यह चर्ख़ा क्या करता है यहाँ पड़ा ? माँ कातती-अटेरती थी। तुमने निकलवाया तो बड़ी हुमक से था, लेकिन...यह अलगना भी हटाओ ! फ़ालतू रज़ाइयों-दुलाइयों को अन्दर बड़े सन्दूक में रखो। कौन-से मेहमान अब आते हैं यहाँ ! दिलीप आ गया तो...

अप्पी : (**अरमान-भरे स्वर में**) हाँ आ गये ! पत्रों की तो कभी पहुँच नहीं दी, अब आयेंगे !

प्राणनाथ : पत्रों की पहुँच नहीं दी, इसीलिए लगता है कि...

अप्पी : उन्हें हमारी याद भी नहीं होगी। ऐसे चुप्पी लगा गये कि...

प्राणनाथ : चुप्पी हमेशा भूल का सबूत नहीं होती। कई बार वह याद की ही चुग़ली खाती है।...आ गया दिलीप तो क्या कहेगा कि जीजा जी ने किस कूड़े के ढेर पर बैठा रखा है उसकी चहेती...(**निमिष भर को उसकी ओर देखते हैं। अप्पी आँखें तरेरती है तो धीरे से जोड़ देते हैं**)...बहन को।

अप्पी : क्यों, कूड़े का ढेर क्या है ! मैं ज़रा बीमार रहती हूँ। देर से उठती हूँ और नौकर कमरा ठीक से साफ़ नहीं कर पाते। अभी सब टिच-टाच कर दूँगी। वे कौन-सा महलों में रहते हैं। आगरे में मौसा जी का घर हमारी हवेली के मुकाबले में तो घरौंदा है...

नीचे के सम्वाद में अप्पी उठ कर अलमारी के खाने से धूल-भरा सामान निकाल कर पीढ़े के पास ला रखती है और खूँटी से मैला-सा तौलिया उठा कर पीढ़े की किताबें चौकी पर पटक, उसे खींच कर उस पर बैठ जाती

है। उसके चेहरे से तमाम ऊबाहट और बेज़ारी मिट जाती है और वह पूरे जोश से चीज़ें साफ़ करने लगती है।

प्राणनाथ : अरे भाई, वह दिल्ली में रहता है। सुनता हूँ, रेडियो में अफ़सर है। यहाँ तो जाने कब रेडियो स्टेशन खुलेगा पर काशी कहता था कि दिलीप जी की आवाज़ दिल्ली में घर-घर गूँजती है। आगरे की बात छोड़ो। तुम सोच भी नहीं सकतीं कि वह कितना बदल गया होगा। धन और यश बड़े-बड़ों का दिमाग़ ख़राब कर देते हैं।

अप्पी : मैं जानती हूँ दिलीप भाई क्या नहीं कर सकते। वे आ गये तो देख लीजिएगा आप !

प्राणनाथ : तुम उसे इतना जानती हो !

अप्पी जवाब नहीं देती। क्षण भर मौन। फिर जैसे अपने विचारों में गुम वह कहती है।

अप्पी : सोचती हूँ, कितना सम्मान पाया है दिलीप ने और मौसा कोसा करते थे कि कुल के नाम को कलंक लगायेंगे।

प्राणनाथ : लड़कपन में आवारा जो था।

अप्पी : नहीं, आवारा तो क्या थे, उल्टे आठों पहर घर में पड़े रहते थे, लेकिन स्कूली किताबों से उन्हें चिढ़ थी।

प्राणनाथ : तो फिर पढ़ता क्या था ?

अप्पी : **(हल्के-से हँसते हुए)** परियों और देवों के किस्से-कहानियाँ और क्या ! न जाने कहाँ-कहाँ से ख़रीद लाते थे ! मौसा जी को चिढ़ थी उन सब किस्से-कहानियों से। वे उन्हें अश्लील समझते थे और बड़े होने के नाते, अपने आपको अपने इस छोटे भाई की हर छोटी-से-छोटी बात के लिए उत्तरदायी मानते थे।

उठ कर क्षण भर अलमारी का खाना झाड़ती है। फिर साफ़ किया हुआ सामान उसमें पुनः सजाते हुए :

अप्पी : एक बार दिलीप कुछ अस्वस्थ थे। मौसा उन्हें देखने गये तो अलिफ़-लैला पढ़ रहे थे। गुस्से के मारे उनकी आँखों में ख़ून उतर आया। बाहर से तो आये ही थे, छड़ी हाथ में थी। धड़ाधड़ पीटने लगे।

प्राणनाथ : बड़े ज़ालिम थे तुम्हारे मौसा। माँ-बाप के बाद कोई पत्थर-दिल ही अपने छोटे भाई को ऐसे पीटता होगा।

चौकी से किताबें उठा कर पीढ़े पर रखते हैं और उसे घसीट कर उस पर बैठ जाते हैं। पगड़ी उतार कर किताबों के ऊपर पीढ़े पर रख देते हैं और सामान झाड़ कर उसे थमाते जाते हैं। अप्पी उसे खाने में सजाती हुई, बात जारी रखती है।

अप्पी : प्यार भी तो वे ही करते थे, लेकिन घर में बड़े होने के नाते यह भी चाहते थे कि पिता के बाद उनका छोटा भाई बिगड़ न जाय। दिलीप क्षमा माँग लेते तो उनका क्रोध शान्त हो जाता। दूध का उबाल ही तो होता था उनका गुस्सा। आया और चला गया। पर दिलीप तो जैसे पत्थर के बने थे। टस-से-मस न हुए। आँखों में आँसू तक न आये। झल्ला कर मौसा ने उन्हें कान से पकड़ कर घर से बाहर कर दिया।

प्राणनाथ : मौसी जी ने नहीं रोका ? बुराई तो उन्हीं की होती—अपने छोटे-से देवर को यूँ पिटवाने पर !

अप्पी : मौसा गुस्से में हों तो किसमें इतना दम है कि उनके सामने जाय। पर दिलीप भी न जाने किस मिट्टी के बने थे ! न

रोये, न चिल्लाये, जा कर नीम के तले बैठ गये । जब रात के बारह बजे मौसा बाहर से लौटे तो उनका कान पकड़ साथ लेते आये और बोले—'यह कमबख़्त कुल के नाम को कलंक लगायेगा ।' भगवान को माया, वही कुल का गौरव बढ़ा रहे हैं ।

प्राणनाथ : लेकिन दिप्पो के देहान्त के बाद, जब मैं दिल्ली गया था तो दिलीप बी० ए० कर चुके थे ।

अप्पी : पर छोड़ थोड़ी दिया था उन्होंने किस्से-कहानियाँ पढ़ना । पढ़ते रहे और बीच खेत पढ़ते रहे । दुनिया-जहान के उपन्यास और कहानियाँ ! स्कूल ही में थे, जब कविता करने लगे थे ।...(**लजाते हुए**) एक बार माता जी ने दिलीप से मेरी बात पक्की करने को कहा...

प्राणनाथ : (**हँस कर**) मौसी तुम्हें चाहतीं भी तो थीं ।

अप्पी दूसरे खाने का सामान वहाँ ला रखती है और पीढ़े पर बैठ कर साफ़ करने लगती है ।

अप्पी : वे तो बड़ी ख़ुश हुईं, पर मौसा सुनते ही आग-बबूला हो गये । बोले, 'क्यों इस बेचारी का गला काटने के पीछे पड़ी हो तुम दोनों बहनें । जो आदमी चार पैसे नहीं कमा सकता, वह बीवी के नाज़ क्या उठायेगा !' और पिता जी मौसा से सहमत थे । मौसा चाहते थे कि बी० ए० करके दिलीप कानून पढ़ें और उनकी तरह वकील-एडवोकेट बनें, लेकिन दिलीप को चिढ़ थी उस पेशे से । एक बार 'ना' कर दी तो फिर 'हाँ' नहीं की और लॉ कॉलेज में दाख़िल नहीं हुए तो नहीं ही हुए !

प्राणनाथ : (**ज़रा हँस कर**) तुम्हारा क्या ख़याल था...

अप्पी : (**किंचित लजा कर**) मेरा...लो भला मैं...मैं जैसी हूँ, बड़ी अच्छी हूँ...

उठ कर ज़ोर-ज़ोर से दूसरे ख़ाने को झाड़ने लगती है ।

प्राणनाथ : (**उसके पास जा खड़े होते हैं**) पर शादी तो दिलीप ने आज तक नहीं की ।

अप्पी : संदेश तो कई जगह से आये, लेकिन पहले तो मौसा जी के ख़याल में उनके रंग-ढंग न बदले, फिर जब रंग-ढंग बदले तो सुना दिलीप भाई ने ब्याह ही से इनकार कर दिया ।

प्राणनाथ : वो किसी वाणी के बारे में...भनक...कान में पड़ी थी...

अप्पी : (**पलट कर**) एक वाणी क्या, दसियों वाणियाँ उनके चरणों पर निछावर होने को तैयार हैं, पर वे किसी की तरफ़ आँख उठा कर देखें भी ! पिछली बार कुन्तल आयी थी तो शिकायत करती थी कि वही रंग-ढंग हैं भैया के । आम लोगों की तरह रहते ही नहीं । बस काव्य और कला की काल्पनिक दुनिया में बसते हैं...आठों पहर !...

प्राणनाथ : हाँ, कुन्तल ही से सुना था । वह तो आने वाली थी । दीवानचन्द कहते थे कि गोपाल की सास जम्मू आ रही है । वहाँ से वैष्णव देवी के दर्शनों को जायँगे । कुन्तल और छोटा उनके साथ जायँगे । वापसी पर दो दिन अखनूर रहेंगे ।

अप्पी : आती तो सीधी यहाँ आती । पत्र तो उसका आया था । ज़रा पता कराइएगा बड़े लाला जी के यहाँ, शायद आ गये हों ।

उठ कर साफ़ किया सामान ख़ाने में सजाती है ।

प्राणनाथ : कभी-कभी सोचता हूँ, मैंने मौसा जी की बात मान कर कुन्तल के लिए 'हाँ' कर दी होती और उन्होंने तुम्हारी माँ की बात मान ली होती तो...

अप्पी : (**हँस कर**) तब मैं कुन्तल की भाभी होती, अब उसकी चाची हूँ ।

प्राणनाथ : (**गहरी आँखों से क्षण भर उसकी ओर देखते हैं । अप्पी की उस हँसी के नीचे जो दर्द है, उसे लक्ष्य कर लम्बी साँस लेते हैं**) लेकिन यही होना था...(**बेचैनी से कमरे में घूमते हुए**) यही होना था...काश मैं तुम लोगों के साथ कुतुब की सैर को न गया होता !

दरवाज़े पर टिक-टिक होती है ।

प्राणनाथ : कौन ?

मुनीम : (**ज़रा-सा सिर अन्दर करता है**) लाला जी, वो आसामियाँ बैठी हैं...

प्राणनाथ : अरे, मैं तो बातों में भूल ही गया । आसमियों को बैठे हुए छोड़ आया था । सोचा तुम्हें दिलीप के आने की ख़बर दे आऊँ, लेकिन तुम्हें यूँ सुस्त लेटे देख कर...(**मुनीम की ओर पलट कर**) चलिए मुनीम जी आ रहा हूँ ।

पगड़ी को चौकी से उठा कर सिर पर रख लेते हैं और ज़रा तेज़-तेज़ जाते हैं । अप्पी उनके पीछे-पीछे जाती है ।

अप्पी : (**दरवाज़े में उन्हें रोक कर**) अगर कहीं सचमुच आ गये दिलीप भैया तो उन्हें रोकिएगा वहीं दुकान पर और मुझे कहला दीजिएगा । सफ़ाई-उफ़ाई में कुछ देर तो लगेगी ।

प्राणनाथ : दुकान पर आया तो रोक लूँगा । घर आ गया तो तुम्हीं सँभालना । किशन सिंह को दुकान भेज कर मुझे भी पता दे देना । आसामियों को निबटा कर आ जाऊँगा ।

चले जाते हैं । अप्पी उनके पीछे किवाड़ भेड़ देती है और उससे पीठ लगा कर खड़ी हो जाती है । हाथों को एक-दूसरे से बाँध कर छत

की ओर देखती हुई उल्लास और अरमान-भरे स्वर में कहती है ।

अप्पी : दिलीप, क्या सचमुच तुम कभी याद करते हो ! क्या सचमुच तुम्हारी चुप्पी उस याद की चुग़ली खाती है ? क्या तुम अखनूर आओगे !...न आओ ! अपनी अप्पी को इस घुटन और सड़न में गले तक डूबे देख कर तुम्हें दुख होगा ! (**कुछ क्षण चुपचाप उसी स्थिति में छत की ओर देखती खड़ी रहती है । फिर जैसे थकी-सी पलँग की पट्टी पर आ बैठती है**) तुम तो बड़े कवि हो गये । बड़ा नाम पा लिया तुमने और मैं...मैं...तुमने कहा था, तुम बहुत बड़ी कवयित्री बनोगी...कवयित्री...कवयित्री...कबूतरी (**दर्द से हँसती है और जा कर खिड़की में खड़ी हो जाती है**) कैसा ठहरा-ठहरा बह रहा है यह चनाब ! और उसके ये दोनों किनारे, कितने सुन्दर लगते हैं ! तुम होते तो इस पर न जाने कितने गीत लिखते । पर मेरा मन तो इसके अथाह पानियों में डूब जाने को होता था, इसलिए मैंने सैर को जाना छोड़ दिया...(**वापस आ कर फिर पलँग की पट्टी पर बैठ जाती है**) और बाऊ जी[1] ने माँ से कहा था—'भीख मँगाओगी अपनी बेटी को उस आवारे से ब्याह कर । कवियों और पागलों में कुछ फ़र्क नहीं होता !'...तुम आवारा नहीं रहे । और मैंने बड़े धनी, बड़े समझदार, बड़े भले आदमी से शादी कर ली ।...अच्छा था, तुम आवारा रहते और मैं तुम्हारे साथ भीख माँगती फिरती...(**सिर को बेतरह झटका देती है**) मैं भी कैसी-कैसी बातें सोच रही हूँ । (**क्षण भर चुप रहती है, फिर पश्चाताप-भरे स्वर में**) दो

---

१. पिता जी

प्यारे बच्चों की माँ हूँ। प्यार करने वाले पति की पत्नी हूँ। (**अपनी नियति के सामने जैसे नतशिर होती हुई**) ठीक हूँ, जैसी हूँ।

थके भाव से उठती है और पार्वती को आवाज़ देती हुई बारजे तक जाती है कि कुन्तल बाहर से तेज़-तेज़ आती हुई दरवाज़े में उससे टकराती-टकराती बचती है और उसे दोनों कन्धों से थाम लेती है।

दोनों एक-दूसरे को आलिंगन में ले लेती हैं और एक-दूसरे की बग़ल में हाथ दिये कमरे में आती हैं।

कुन्तल : कहो चाची, कैसे हाल-चाल हैं ? (**परे हो कर उसे सिर से पाँव तक एक नज़र देखती है**) तुम तो लगता है अभी सो कर उठी हो।

कुन्तल अप्पी की समवयस्क है। उतनी सुन्दर नहीं। रंग भी उसका किंचित श्याम है, लेकिन उसके चेहरे पर कुछ अजीब-सी सरलता और उत्फुल्लता है।

अप्पी : मुझे चाची कहते हुए शर्म नहीं आती तुम्हें ! मैं तो तुम्हारी वही पुरानी अप्पी हूँ। पिछली बार भी तुमसे कहा था कि...

कुन्तल : लगता है, तुम्हारा मूड आज ठीक नहीं। तुम मज़ाक का भी बुरा मान जाती हो।

अप्पी : तबियत इधर वर्षों से ठीक नहीं रहती।

कुन्तल : यह सामान क्या बिखेर रखा है।

अप्पी : अलमारी ठीक करने लगी थी कि थक गयी। पार्वती को बुलाने जा रही थी कि आ कर ठीक करे।

कुन्तल : क्या हो गया है तुम्हारी तबियत को ! किस चीज़ की कमी है तुम्हें ! हर तरह का सुख है। आराम है। और क्या चाहिए ?...अभी मैंने नीचे आँगन में दीशी और निम्मो को खेलते देखा—कितने प्यारे बच्चे हैं तुम्हारे और (**तनिक हँस कर**) चाचा जी कहूँ या जीजी जी, कितने अच्छे हैं। हमारे ससुर तो अपने भाई की प्रशंसा करते नहीं थकते। अखनूर में एक भी आदमी न मिलेगा, जो उनकी तारीफ़ न करे और तुम्हें कितना प्यार करते हैं। पिछली बार तुमने खुद कहा था...

अप्पी : हाँ, मुझे किसी चीज़ की कमी नहीं। भगवान का दिया सब कुछ है, पर जाने तबियत को क्या हो गया है। शरीर में जैसे शक्ति ही नहीं रही। कुछ अच्छा नहीं लगता। कुछ करने को जी नहीं होता—बस यही जी चाहता है कि लेटी रहूँ और कोई मुझे न छेड़े...कोई मुझे न छेड़े...

कुन्तल : तुम्हें अप्पी यह अखनूर पसन्द नहीं आया, जब कि मैं, जो बड़े-बड़े शहरों में मारी-मारी फिरती हूँ, जब इधर आती हूँ तो यहाँ से जाने को मेरा जी नहीं चाहता।...छोटा-सा घर हो, दो-तीन प्यारे बच्चे हों, चाहने वाला पति हो तो और क्या चाहिए !...पर सबकी किस्मत तो तुम्हारे जैसी नहीं होती।

अप्पी : क्यों, छोटे क्या तुम्हें...

कुन्तल : वह सब है, लेकिन वे दिन भर दफ़्तर में रहते हैं और अकेला घर...

अप्पी : मैंने तुमसे पिछली बार ही कहा था, तुम्हें किसी बढ़िया लेडी डॉक्टर को...

कुन्तल : पिता जी ने मेरा टेस्ट कराया था। मुझमें कोई दोष नहीं।

अप्पी : तो उनका...

कुन्तल : वे तैयार ही नहीं होते । (**फिर सिर को झटका दे कर इस दुखद प्रसंग को हटा देती है**) हमारे भाग्य में यह सुख-आराम नहीं लिखा । सोचती थी, इस बार आऊँगी तो कुछ दिन यहाँ रहूँगी, लेकिन मिलिट्री की नौकरी, उन्हें छुट्टी ही नहीं है । बाऊ जी और माता जी देवी के दर्शनों को आये थे । उन्हें जम्मू छोड़ कर भाग आये हैं । रात आये थे, अभी बस से चले जायेंगे । कोशिश तो करूँगी उन सब को जम्मू से रवाना करके दो दिन के लिए वापस आ जाऊँ... आने दें तब न ! मेरे सिवा उन्हें किसी के हाथ का खाना ही नहीं अच्छा लगता । बस यही महत्व है मेरा उनके निकट ।

हल्के-से व्यंग्य और उदासी से हँसती है, जिससे यह मालूम नहीं होता कि उसने यह बात मज़ाक में कही है या गम्भीरता से ।

अप्पी : अरे, मैं तो तुम्हारी बातों ही में उलझ गयी । चाय तो पियोगी ! (**तेज़ी से उठती है और नौकरानी को आवाज़ देती है**) पार्वती...पा...

कुन्तल : (**उठ कर उसके मुँह पर हाथ रखते हुए**) चाय-वाय हमने पी ली है । मैं तो बस तुमसे मिलने चली आयी । कल अचानक जम्मू में दिलीप भाई दिख गये । मैंने कहा, तुम्हें उनका हाल-चाल देती चलूँ ।

अप्पी : (**रह नहीं सकती, पूछ लेती है**) क्या यहाँ आने को कहते थे ?

कुन्तल : मैं तो उन्हें अपने साथ ही खींच रही थी, पर वे अकेले नहीं थे, उनके साथ कुछ दोस्त हैं और वह चुड़ैल भी है ।

अप्पी : चुड़ैल !

कुन्तल : अरे वही वाणी । जाने कैसी सुर्ख़ी लगाती है होंठों पर और कैसी भवें बनाती है कि लगता है मर्द को कच्चा ही खा जायगी । (**हँसती है**) हम रघुनाथ मन्दिर में घूम रहे थे कि सामने से दिलीप भाई आते मिल गये । मैंने कहा, 'कभी ख़त न ख़बर दिलीप भैया, एकदम भुला दिया हमें । चचेरी बहन हूँ तो क्या हुआ, आप तो मुझे रमिया से बढ़ कर मानते थे ।' सच कहूँ अप्पी, लाल हो गया चेहरा दिलीप भैया का ! मुझे कलावे में भर लिया और ज़रा अलग हो आये । मैंने कहा, 'मैं शाम को अखनूर जा रही हूँ । चलिए आपको दिखा लायें अखनूर !' बोले, 'जाना तो चाहता हूँ, पर साथ में पार्टी है । श्रीनगर जा रहे हैं, बर्फ़ गिरती देखने ।' मैंने कहा, 'एक दिन में क्या हुआ जाता है । शाम को चलिए, सुबह लौट आइएगा । अप्पी न जाने कितना-कितना आपका ज़िक्र किया करती है । हम लोगों को कितनी ख़ुशी होगी ।' तुम्हारा नाम सुन कर एक बादल-सा घिर आया दिलीप भैया के चेहरे पर और फिर उनकी आँखें चमक उठीं, लेकिन इससे पहले कि वे कुछ जवाब देते, वह चुड़ैल आ खड़ी हुई वहाँ और दिलीप भैया कुछ भी नहीं कह सके और वह जल्दी मचाती हुई उन्हें खींच कर ले गयी ।

अप्पी : लाला जी अभी आये थे, कहते थे, 'दिलीप जम्मू आये हैं, हो सकता है यहाँ भी आ जायँ । मैंने कहा, 'पत्रों की भी तो सनद नहीं दी । अब आयेंगे !'

कुन्तल : नहीं अप्पी, आ भी सकते हैं । तुम्हारा नाम सुनते ही कुछ अजीब-सा भाव उनके चेहरे पर आ गया था । वाणी न होती तो मैं उन्हें कल साथ ही ले आती ।

फ़ौजी वर्दी पहने, खट-खट करता गोपाल बारजे से आता है। सूरत-शक्ल प्राणनाथ-सी है। वैसा ही डील-डौल और वैसे ही बाहर को निकले दाँत। जवान है और उत्फुल्ल।

गोपाल : चाची जी नमस्ते। मैं तो सुबह-सुबह आया था आपसे मिलने, पर नीचे से पता चला कि आपकी तबियत खराब है, आप सोयी हैं। कुछ दिन आप हमारे पास दिल्ली आ जाइए, आपकी यह बीमारी-उमारी—सब भाग जायगी। **(अपने आप ठहाका मारता है। फिर कुन्तल से)** चलो भई कुन्तल, क्या बस मिस कराओगी।

कुन्तल उठती है। दोनों सहेलियाँ एक-दूसरी को बाँहों में भर लेती हैं और फिर कुन्तल अलग हो कर 'टा-टा' करती अपने पति के साथ बारजे पर गुम हो जाती है। अप्पी 'आये भी और चाय तक नहीं पी'...'यह क्या आना हुआ, हम नहीं मानते'—कुछ ऐसे ही वाक्य कहती है। और उनके पीछे-पीछे बारजे पर जाती है। फिर आ कर हताश कुर्सी पर बैठ जाती है।

अप्पी : (अपने आप) अच्छा है, तुम नहीं आ रहे हो दिलीप। तुम्हें आ कर तकलीफ़ ही होती। कितना अच्छा होता, तुम्हारे साथ मैं भी श्रीनगर जा सकती...बर्फ़ गिरती देखने। कितनी बार इन्होंने कहा है, पर मैं नहीं गयी। धीरे-धीरे बर्फ़ यहीं गिरने लगी। मैं उसमें सिर से पैर तक डूब गयी... डूब गयी...

टाँगें तिपाई पर फैला लेती है और शरीर पीछे को ढीला छोड़ देती है और कुछ क्षण उसी तरह चुपचाप पसरी रहती है।

पार्वती बारजे से झाँकती है ।

पार्वती : लाला जी ?...

अप्पी : (**बेध्यानी में बाहर दरवाज़े की तरफ़ संकेत करती है**) वे दुकान चले गये ।

पार्वती : (**नीचे आँगन की ओर झुक कर आवाज़ देती है**) किशन सिंह, लाला जी दुकान चले गये हैं ।

जाने लगती है । अप्पी उसे आवाज़ देती है ।

अप्पी : पार्वती मैं तो थक गयी हूँ, अलमारी साफ़ करते-करते । दो ख़ाने मुश्किल से साफ़ किये । बाकी तुम साफ़ कर दो । लेकिन पहले ज़रा यह बिस्तर-विस्तर कर दो, पलँगपोश बिछा दो और फ़र्श साफ़ कर दो ।

फिर पीछे को लेट जाती है और पैर पसार लेती है । पार्वती लिहाफ़ तहा रही होती है कि अप्पी पूछती है :

अप्पी : कौन था ।

पार्वती : जाने कोई सूट-बूट पहने थे । मैंने शकल नहीं देखी, किशन सिंह कहता था, दिल्ली से आये हैं, लाला जी को पूछ रहे थे ।

अप्पी : (**चौंकती है । सीधी हो बैठती है । अपने आप से**) दिल्ली से ! दिलीप न हो !

पार्वती : क्या दिलीप बाबू आने वाले थे ?

अप्पी : लाला जी कहते थे जम्मू आये हुए हैं । पर दिलीप होता तो क्या बाहर ही से पूछता, धड़धड़ाता ऊपर न आता... लेकिन...

उठती है और अन्दर कमरे में जा कर नयी चादरें और रजाई का गिलाफ़ लाती है ।

अप्पी : पार्वती, ये चादरें और ग़िलाफ़ मैले हो गये हैं। तू ये सब बदल डाल !

उसके साथ मिल कर लिहाफ़ का ग़िलाफ़ उतार कर ज़मीन पर फेंक देती है, फिर चादरें हटा देती है। पार्वती ग़िलाफ़ चढ़ाती है। अप्पी जा कर सिरहाने के ग़िलाफ़ ले आती है। दोनों मिल कर बिस्तर की चादरें और ग़िलाफ़ बदल डालती हैं। अप्पी ट्रंकों पर पड़ा पलँग-पोश भी फ़र्श के ढेर पर डाल देती है और अन्दर से जा कर नया पलँगपोश लाती है। दोनों पलँगपोश बदल रही होती हैं कि बारजे से दीशी हँसता हुआ अपनी छोटी बहन की गुड़िया लिये भाग आता है। उसके पीछे निम्मो चीखती-चिल्लाती, आँधी की तरह प्रवेश करती है।

निम्मो : दे मेरी गुड़िया...दे मेरी गुड़िया ! (**उसे पकड़ कर पीटते हुए**) दे मेरी गुड़िया...दे...दे !

दीशी : (**बराबर उसे पीटता हुआ**) फिर मारेगी मुझे, ले...यह ले...यह ले !

अप्पी : (**पलँगपोश बिछाना छोड़ कर**) अय हय दीशी, निम्मो ! यह क्या हो रहा है ?

निम्मो : गुड़िया छीन ली मेरी।

दीशी : (**जो थप्पड़ की आशा में हाथ गाल के आगे रख लेता है**) फिर मुझे चिढ़ाती क्यों थी ?

अप्पी : (**जो मारती नहीं, बल्कि बड़े सब्र के साथ उसे समझाती है**) चिढ़ाती थी तो फिर क्या हुआ, तेरी छोटी बहन है। अच्छे लड़के अपनी बहनों से ऐसा ही प्यार करते होंगे ? तुम्हारे

मामा मुझे सदा प्यार करते थे। कभी न पीटते थे।

निम्मो : (**सिसकना कुछ कम करके**) श्याम मामा अम्मा ?

अप्पी : वह तो तुम्हारे इस भैया ऐसे ही थे, मैं तुम्हारे दिलीप मामा की बात करती हूँ। बहुत बड़े आदमी हैं।

निम्मो : (**सिसकना और भी कम करके**) बड़े अमीर आदमी हैं।

अप्पी : नहीं बेटी, उनका नाम बड़ा है। वे कवि हैं। गीत लिखते हैं। उनके गीत रेडियो से सारे देश में गूँजते हैं।

दीशी : रेडियो क्या अम्मा...?

अप्पी : दिल्ली में एक रेडियो स्टेशन है। उसमें एक कमरे में कोई गाता है तो सारे देश में जहाँ-जहाँ रेडियो-सेट हैं, वहाँ-वहाँ वह गाना सुनायी देता है।

दीशी : हमने नहीं सुना दिलीप मामा का गाना।

अप्पी : कश्मीर में अभी रेडियो स्टेशन नहीं खुला। हमारे घर रेडियो-सेट भी नहीं। मैं लाला जी से कहूँगी कि हमें एक रेडियो-सेट ला कर दें।

दीशी : रेडियो-सेट क्या अम्मा ?

अप्पी : (**बड़े सब्र और प्यार से समझाते हुए**) छोटा-सा डिब्बा होता है, जिसमें...घुण्डियाँ लगी होती हैं। उन्हें घुमाने से गीत आने लगते हैं। हमारे जम्मू में जब रेडियो स्टेशन खुलेगा, हम भी रेडियो-सेट लायेंगे और तुम्हें दिलीप मामा के गीत सुनायेंगे। देश में वो जहाँ जाते हैं, लोग उनके रास्ते में आँखें बिछाते हैं। अभी लाला जी कह रहे थे कि वो जम्मू आये हुए हैं। (**कुर्सी पर बैठ कर उसकी दोनों बाँहें थामते हुए**) अगर वो कहीं आ जायें और तुम्हें देख लें दीशी, तो क्या कहें ? शक्ल तो देखो कैसी भंगियों की-सी बना रखी है ! (**दीशी थप्पड़ के भय से चेहरा ज़रा-सा परे हटाता है, पर अप्पी पीटती नहीं, पार्वती से कहती है**)

— : पार्वती, यह कमरा पीछे साफ़ करना। पहले इसे ले जा कर नहला और इसके कपड़े बदल डाल !

पार्वती जा कर दीशी का हाथ थामती है।

दीशी : (**माँ के सहसा जग उठने वाले स्नेह से लाभ उठा कर मिनमिनाता हुआ माँ का आँचल पकड़ लेता है**) **अम्मा-ाँ-ाँ...!**

अप्पी : (**स्वाभाविक डाँट के स्वर में**) जा भी कमबख़्त (**फिर सम्हल कर और बरबस संयत हो कर**) जा-जा बेटा, तेरे मामा आयेंगे तो तुझे इस तरह मैले कपड़े पहने देख कर नाराज़ होंगे और मिठाई नहीं देंगे ! जा...जा...मेरा राजा बेटा...

दीशी : फिर मैं दो पैसे की बर्फ़ी लूँगा।

अप्पी : (**दाँत पीसते हुए, लेकिन यथाशक्य प्यार-भरे स्वर में**) हाँ-हाँ लेना बर्फ़ी...लेना बर्फ़ी...।

पार्वती दीशी को ले जाती है। अप्पी बारजे पर जाती है और जंगले पर खड़े हो कर किशन सिंह को आवाज़ देती है।

— : किशन सिंह...किशन सिंह !

किशन सिंह : (**नीचे से**) जी बीबी जी !

अप्पी : ज़रा सुनना !

किशन सिंह : जी अभी आता हूँ।

अप्पी वापस आती है और निम्मो को खींच कर गोद में बैठाती हुई स्वयं कुर्सी पर बैठ जाती है।

अप्पी : (**बड़े प्यार और दुलार से**) और क्यों निम्मो बेटी, इस तरह बड़े भाइयों से बर्ताव करते हैं !

माँ के इस आकस्मिक प्यार से चौंक कर निम्मो चुप रहती है।

अप्पी : कहो बेटी !

निम्मो : छीनी क्यों उसने मेरी गुड़िया ?

अप्पी : गुड़िया छीन ली थी तो मुझसे कहती। यह क्या कि धौल-धप्पा शुरू कर दिया। यह तो चुन्नी के लच्छन हैं। मुन्नी कभी ऐसा न करती थी।

निम्मो : (**स्वाभाविक औत्सुक्य से**) मुन्नी कौन थी अम्मा ?

अप्पी : मुन्नी चुन्नी की छोटी बहन थी। कहने को वह नन्हीं-मुन्नी थी, पर बड़ी बहन की तुलना में इतनी चतुर, समझदार और नेक कि सब उससे प्यार करते थे। चुन्नी दिन-चढ़े तक सोती रहती थी और जब उठती तो बहन-भाइयों से लड़ती, लेकिन मुन्नी बहन-भाइयों से प्यार करती। माँ और बहन के कामों में हाथ बँटाती। घर-तो-घर, वह मुहल्ले भर की चहेती थी। (**प्यार से उसे चूम कर**) मेरी निम्मो बेटी, चुन्नी बनेगी या मुन्नी ?

निम्मो : (**माँ की गोद में उछल कर**) मैं तो मुन्नी बनूँगी।

अप्पी : ले फिर अपनी गुड़िया और खिलौने समेट कर रख दे ! और वो अपने भइया की किताबें और कापियाँ भी उठा और सहेज। देखो, तुम दोनों कमरे को कितना गन्दा कर देते हो !

निम्मो : अभी उठा लेती हूँ अम्मा।

अप्पी : (**निम्मो को एक बार फिर प्यार से चूम कर**) बड़ी अच्छी है मेरी मुन्नी बेटी।

किशन सिंह : (**बारजे से**) जी बीबी जी !

अप्पी : (**तत्काल उठ कर उसके पास जाती है—ज़रा धीरे से**) कौन आया था दिल्ली से, कहीं दिलीप भैया...

किशन सिंह : नहीं बीबी जी, दिलीप भैया को क्या मैं नहीं पहचानता ? मैंने उन्हें गोद में खिलाया है। कोई साहब लाला गणेशी लाल को पूछ रहे थे। लाला जी के नाम चिट्ठी लाये थे।

किशन सिंह चला जाता है। अप्पी आ कर उदास-सी कुर्सी में धँस जाती है। उसके चेहरे पर फिर थकान उभर आती है। वह टाँगें पसार लेती है और सिर पीछे फेंक देती है। कुछ क्षण मौन, जिसमें निम्मो खिलौने और किताबें समेटती है। तभी मुनीम बाहर से दरवाज़े पर टिक-टिक करता है।

अप्पी : (**वहीं से थके स्वर में**) निम्मो, ज़रा कुण्डी खोलना बेटी...

निम्मो कुण्डी खोलती है। मुनीम अन्दर झाँकता है।

मुनीम : लाला जी ने कहलवाया है बहू जी कि दिलीप भैया जम्मू से आ गये हैं।

अप्पी : (**चौंकती है। दुपट्टा ज़रा-सा ठीक करते हुए**) आ गये ! दुकान पर हैं ?

मुनीम : बड़े लाला जी उन्हें साथ ले गये हैं। वहीं से खाना खा कर आयेंगे।

अप्पी : बड़े लाला जी !! (**उठ खड़ी होती है।**)

मुनीम : जी, वो छोटे और बहू को बस के अड्डे पर छोड़ने गये थे। उसी बस से उतरे थे दिलीप भैया और बड़े लाला जी उन्हें ले आये।

अप्पी : पर कुन्तल और छोटे तो...

मुनीम : चले गये उसी बस से ! बड़े लाला जी को ज़मीनों पर जाना था। फिर मुलाकात हो-न-हो, इसलिए वो दिलीप जी को अपने साथ ले गये। दुकान पर सँदेसा देते गये।

लाला जी का खाना आप दुकान पर भिजवा दें और इस बीच दिलीप भैया के लिए कमरा वगैरा ठीक करा दें ! लाला जी उन्हें साथ ले कर आयेंगे। कोई ख़ास चीज़ मँगानी हो तो कहला भेजिएगा।

मुनीम चला जाता है। अप्पी उठ कर सहसा निम्मो को गोद में चिमटा कर चूम लेती है।

अप्पी : मुन्नी, तेरे मामा आ गये। अब तू जल्दी से खिलौने और किताबें समेट ले। फिर मैं तुझे ख़ुद तैयार करती हूँ। बस मेरी बेटी मुन्नी-ऐसी बन जायगी और आते ही अपने मामा को नमस्ते कहेगी। (**उसे छोड़ कर तेज़-तेज़ बारजे पर जाती है और पार्वती को आवाज़ देती है। निम्मो किताबें और खिलौने समेटती है।**) पार्वती... (**और भी ज़ोर से**) पार्वती !

पार्वती : (**स्नान-गृह से**) जी बहू जी, आयी (**गोले हाथ लिये भागी आती है**) जी !

अप्पी : (**उल्लास भरे स्वर में**) देख, दीशी को छोड़, उसे मैं नहलाती हूँ। दिलीप जी आ रहे हैं। तू किशन सिंह को साथ ले कर यह अलगने का सामान, ये ट्रंक, यह चर्ख़ा वगैरा उधर कमरे में रख। निम्मो से खिलौने और किताबें ले ले। दरवाज़ों पर पर्दे डाल दे। कुर्सियों की गद्दियाँ और तिपाई का मेज़पोश बदल (**सोचती है।**) सोने के लिए न जाने दिलीप भैया कौन-सी जगह पसन्द करेंगे ?

पार्वती : बारहदरी अच्छी रहेगी।

अप्पी : हाँ, बारहदरी अच्छी रहेगी ! इस कमरे को फ़ौरन साफ़ करके ऊपर बारहदरी को झाड़-बुहार कर फ़र्श पर गीला कपड़ा फेर दे। फ़र्श पर दरी-दुलाई, जाजम और उसके ऊपर गब्भे बिछा दे। मेज़ के लिए मेज़-पोश और कुर्सी

के लिए गद्दी मैं अभी देती हूँ।

पार्वती : **(इतना काम सुन कर टालने की ग़रज़ से)** रात बहुत बर्फ़ पड़ी है पहाड़ों पर। बारहदरी में ठण्ड न हो।

अप्पी : तू बारहदरी साफ़ कर दे, मैं किशन सिंह को निचली बैठक साफ़ करने के लिए कहती हूँ...पता नहीं दिलीप कौन-सी जगह पसन्द करेंगे।...ज़रा किशन सिंह को आवाज़ दे।

पार्वती : **(बारजे के दरवाज़े पर जा कर किशन सिंह को आवाज़ देती है)** किशन सिंह...किशन सिंह !

किशन सिंह : **(नीचे से)** क्या बात है, चिल्लाये जाती हो।

पार्वती : बहू जी बुला रही हैं।

किशन सिंह : आया।

अप्पी : **(पार्वती के उतरे चेहरे को देखे बिना, नीचे आँगन की ओर संकेत करते हुए।** और देख, बारहदरी को साफ़ करके ज़रा आँगन भी ठीक कर। ये मुए झुलंगे जो पड़े हैं, इन्हें कोठरियों में बन्द कर ! ये लकड़ियाँ उठा कर गोदाम में रख **(जोश में उसे कन्धे से थामे कमरे में वापस आते हुए किंचित धीमे स्वर में)** और देख, दिलीप जी को फूल बहुत पसन्द हैं। किशन सिंह के लड़के को बेगाँ के बाग़ में भेज कर गुलदस्ते मँगा ले। फूलदान मैं अन्दर से निकाल दूँगी। एक ऊपर बारहदरी में लगा दे और दूसरा नीचे बैठक में अँगीठी पर रख दे...ज़रा भी सुस्ती से काम लिया तो देखना...

पार्वती : नहीं बहू जी, अभी भेजती हूँ किशन सिंह के छोकरे को बेगाँ के बाग़ में।

बारजे पर किशन सिंह आता है।

किशन सिंह : जी बीबी जी !

अप्पी : **(उसकी तरफ़ जाते हुए)** दिलीप भैया आये हैं किशन सिंह

और मैं परेशान हूँ कि उनके लिए कौन-सा कमरा ठीक रहेगा ! बारहदरी या बैठक ?

किशन सिंह : जी...जी...!

अप्पी : मैंने पार्वती से बारहदरी ठीक करने के लिए कहा है। तू ज़रा नीचे बैठक के फ़र्श पर गीला कपड़ा फेर दे; तख़्त झाड़-पोंछ कर साफ़ कर दे और मेज़-पोश बदल डाल ! लेकिन सबसे पहले दोनों मिल कर यह कमरा ठीक कर दो ! पार्वती को मैंने समझा दिया है।

किशन सिंह : (**अन्दर कमरे में आता हुआ**) आओ पार्वती।

पार्वती : लेकिन बीबी जी, खाने का...

अप्पी : (**वहीं बारजे से**) लाला जी ने खाना वहीं मँगाया है। बच्चों को नहला कर मैं खाना पका दूँगी। या जब तक मैं बच्चों को नहलाती हूँ, तू किशन सिंह के साथ कमरा ठीक कर, फिर तू खाना पका कर बच्चों को खिलाना और दुकान पर दे आना। मैं ख़ुद कमरा और बारहदरी ठीक कराऊँगी। सब-कुछ ठीक-ठाक कर के ही मैं नहाऊँ-धोऊँगी।

पार्वती : जी अच्छा। (**किशन सिंह से**) आओ किशन सिंह !

अप्पी : (**स्नान-गृह की ओर देख कर**) अरे दीशी, नंगा मत बाहर आ बेटा, मैं आ रही हूँ। (**नौकरों की ओर मुड़ कर**) और देखो, बैठे न रहना। कमरा और बारहदरी ठीक करके बैठक भी देखनी है। मैं इतने में बच्चों को नहलाती-धुलाती हूँ। (**पलट कर आती है और निम्मो से खिलौने-किताबें ले कर उन्हें मेज़ पर रख देती है।**) चल निम्मो, तू भी नहा कर कपड़े बदल ! (**पार्वती से**) अब तू झटपट इस कमरे को साफ़ करके पोंछा दे दे और दिलीप जी के आने तक इस जगह को बैठने लायक बना दे। (**जाते-जाते**

बारजे से मुड़ कर किशन सिंह से) कुएँ से पानी और बेगाँ के बाग़ से फूल मँगाना मत भूलना।

निम्मो को साथ ले कर चली जाती है। पार्वती बाल्टी-लोटा उठा कर ले जाती है। किशन सिंह रज़ाइयाँ-दुलाइयाँ उतार रहा होता है, जब पर्दा गिरता है।

●

दूसरा अंक

•

ढाई घण्टे बाद पर्दा उसी कमरे में उठता है। इस बीच कमरे की लगभग काया-पलट हो गयी है। बच्चों के खिलौने अलमारी के ऊपर करीने से चुने हैं। चर्खा-अटेरन, लोटा-बाल्टी, खुरे के ऊपर का अलगना, रज़ाइयाँ-दुलाइयाँ और ट्रंक—सब दूसरे कमरे में चले गये हैं। दर-दीवार, फ़र्श और फ़र्निचर झाड़-पोंछ दिया गया है। इस सबसे उसका पुरानापन तो दूर नहीं हुआ, लेकिन उस पर रौनक ज़रूर आ गयी है। कुर्सियों की गद्दियों के ग़िलाफ़ बदल दिये गये हैं और सिर के पीछे वाले हिस्से पर कवर चढ़ा दिये गये हैं। तिपाई पर पलंग-पोश के रंग का, कसीदे-कढ़ा, रेशमी मेज़-पोश बिछा है, जिसके किनारों पर कढ़े हुए बड़े-बड़े फूल अनायास ध्यान आकर्षित करते हैं। चौकी पर भी छोटा-सा, चारों किनारों से फूलों-कढ़ा, कवर बिछा है और पीढ़ों पर नयी गद्दियाँ रखी हैं।

कमरे की खिड़की और दरवाज़े—सब खुले हैं और कमरा, जो पहले अँधेरा, सँकरा और घुटा-घुटा लगता था, हवादार, खुला-खुला और रोशन-

सा लग रहा है। खिड़की और दरवाज़ों पर सुन्दर पर्दे टँगे हुए हैं। बाहर की सीढ़ियों पर खुलने वाले दरवाज़े का पर्दा छोड़ा हुआ है। खिड़की और बारजे के दरवाज़ों पर पर्दों के दोनों पट समेट कर उनमें एक-एक चूड़ी डाल दी गयी है ताकि खिड़की से हवा को और बारजे से घर वालों को आने में कठिनाई न हो। पर्दा उठने पर शेष कमरा ख़ाली है, केवल अन्दर वाले कमरे के पास फ़र्श पर बैठी पार्वती पर्दे का निचला हिस्सा तनिक मोड़ कर तुरप रही है कि वह फ़र्श से ज़रा ऊँचा रहे। तभी बारजे से किशन सिंह प्रवेश करता है।

किशन सिंह : लो, मैं तो अप्पी बीबी के साथ बारहदरी ठीक कर आया हूँ। अब तुम यह काम खतम करो और चल कर ज़रा आँगन और बैठक साफ़ करने में मेरी मदद कर दो। बूढ़ा हो गया हूँ और मुझ में अब उतना दम नहीं रहा।

पार्वती : बस ये दो टाँके रह गये हैं! बहू जी ने...

किशन सिंह : यह कमरा और बारहदरी ठीक करते-करते बीबी जी तो धूल में अट गयीं। ज्यों ही मुनीम खबर लाया कि दिलीप बाबू दुकान पर आ गये हैं, वे सब कुछ छोड़ कर गुसलख़ाने में भाग गयीं कि उनके आने तक कम-से-कम नहा तो लें। मुझसे कह गयी हैं कि पार्वती को ले कर बैठक को टिच-टाच कर दो। दिलीप बाबू को बारहदरी पसन्द न आयी तो...

पार्वती : बस यह हो गया है। (**तेज़-तेज़ टाँके लगाती है, फिर कमरे में एक नज़र डाल कर**) दो घण्टे में सूरत निकल आयी कमरे की। मुझे तो उन दिनों की याद हो आयी, जब बहू

जी नयी ब्याही आयी थीं और उन्होंने यह कमरा ऐसे ही सजाया था। लाला जी कपड़े के कई थान लाये थे और बहू जी ने अपने हाथ से पर्दे सिले और टाँगे थे। फिर जाने क्या हुआ कि पर्दे लगे-लगे मैले हो गये और पलॅग-पोश हफ़्तों-महीनों बिस्तरों पर रहने लगे। मैंने पर्दे उतार कर धोबी को दे दिये तो बहू ने नये नहीं लगाये। धुल कर आ गये तो हफ़्तों ट्रंकों पर पड़े रहे। एक दिन मैंने टाँगने को कहा तो बोलीं, 'काहे को लगाने हैं पर्दे, किससे करना है पर्दा, कौन मेहमान आते हैं यहाँ। रख दे इन्हें अन्दर बड़े ट्रंक में!'...आज जाने कितने वर्षों बाद इन पर्दों की किस्मत जागी है।

फिर तेज़-तेज़ टाँके लगाती है।

किशन सिंह : **(जो इस बीच कमरे का जायज़ा लेता रहा है। देखता है कि तिपाई के मेज़-पोश का एक कोना बहुत नीचा है—उसे ठीक करते हुए)** असल में दीशी के जनम के बाद ही बीबी की तबियत ख़राब रहने लगी थी। निम्मो के बाद तो उनमें सकत ही नहीं रही। कहाँ तो शुरू में सुबह पाँच बजे उठ कर, नहा-धो कर, लाला जी के साथ सैर करने जाती थीं, कहाँ आठ-आठ, नौ-नौ बजे तक बिस्तर पर पड़ी रहने लगीं। कौन लगाता पर्दे-वर्दे! कौन करता कमरे की सफ़ाई! जो सामान यहाँ आया, यहीं रह गया।

पार्वती : वो चर्ख़ा था न, कहीं एक दिन लाला जी ने कहा, 'सैर-वैर तो जाना तुमने छोड़ दिया है, और कुछ नहीं तो चर्ख़ा-चक्की ही चलाया करो कि कुछ मन लगे और कुछ सैहत बने।' तब गोदाम से माता जी वाला पुराना चर्ख़ा निकलवाया। साफ़ कराया। नया तकला लगवाया। लेकिन दो दिन बाद उठा कर रख दिया। मैंने एक बार

कहा, 'बहू जी, यहाँ पड़ा क्या करता है। गोदाम में रख देती हूँ!' बोलीं, 'नहीं रहने दो, चलाऊँगी!' लेकिन एक दिन को भी हाथ नहीं लगाया।

किशन सिंह : **(जो बातें करते-करते सामान ठीक-ठाक किये जाता है।)** और वह अलगना। जब मैं बोबी जी के साथ आया तो बिल्कुल वहीं टँगा था। आते ही उन्होंने उसे हटा दिया था। 'इतने ट्रंक हैं, अलगना की क्या ज़रूरत है?' उन्होंने कहा था। तब रोज़ सुबह रज़ाइयाँ तहा कर ट्रंकों में रखी और शाम को निकाली जाती थीं। मुझे याद है, साल-डेढ़ साल ऐसा होता रहा। फिर हफ़्तों बिस्तर यूँ ही बिछे रहने लगे। बहुत हुआ तो दिन को गोल करके अन्दर रख दिये। सिर्फ़ गर्मियों के दो महीने रज़ाइयाँ ट्रंकों में रखी जातीं और पट्टू निकाले जाते कि सुबह-शाम कुछ सर्दी हो जाती है। फिर एक दिन कहने लगीं, 'कौन दो महीने के लिए रज़ाइयाँ अन्दर रखे। किशन सिंह, तुम अलगना ही लगा दो।' मैंने अलगना लगा दिया और बरसों-बरस रज़ाइयाँ वहीं टँगी रहीं।

पार्वती : **(आख़िरी टाँका लगा कर दाँतों से धागा काटती है। पर्दा छोड़ कर उसे झटक कर ठीक करते हुए, धागे का गोला उठाती है और सुई उसमें खोंसती है।)** मैं कहती हूँ, ये दिलीप भैया ख़ूब आये हैं—कमरे की, बच्चों की, बहू की काया पलट गयी! जाने कितने दिनों बाद ऐसे जुट कर काम किया है बहू ने। चेहरे की पिलाई तो उनका नाम सुन कर ही उड़ गयी।

किशन सिंह : **(पलँग-पोश ठीक करना छोड़, उसके पास आ कर सरगोशी में)** लड़कपन में साथ-साथ खेले हैं। यहाँ आने से पहले इन्हीं के साथ चल रही थी अप्पी बीबी की बात।

लेकिन दिप्पो बीबी बच्ची को छोड़ कर परलोक सिधार गयीं और माता जी ने दुधमुँही भानजी का वास्ता दिला कर इनको यहाँ ब्याह दिया।

पार्वती : धन-दौलत का भी ख़याल होगा।

किशन सिंह : हाँ! अपनी आग पराये क्यों सेंकें! (**जा कर पलँग-पोश ठीक करता है, जो जल्दी में पायँते की ओर नीचा हो गया है। पार्वती उसकी मदद करती है। लम्बी साँस भर कर**) पर न वह धन-दौलत रही; न भानजी! और बीबी कैद हो गयीं इस हवेली में। मैं तो जब भी उनको यूँ बुझे-बुझे देखता हूँ, मुझे उन पर दया आती है। कहाँ दिल्ली की रौनक और गहमा-गहमी, जहाँ रात के बारह बजे भी दिन का समाँ बँधा रहता है, और कहाँ यह हिमालय की तराई में बसा अखनूर, जहाँ लोग रात को आठ बजे ही खा-पी कर बिस्तरों में चले जाते हैं। किस्मत ही तो है। कहाँ-से-कहाँ ला पटका!

पार्वती : (**जो घर की पुरानी नौकरानी है और जिसे यह आलोचना नहीं सुहाती**) लेकिन दिप्पी बहू भी तो इनकी बहन थीं और वो भी अखनूर में...

किशन सिंह : दिप्पो बीबी की बात दूसरी थी। उनमें और इनमें ज़मीन-आसमान का फ़र्क था। एक तो वो पढ़ी-लिखी नहीं थीं। पढ़ने-लिखने में उनका मन ही नहीं था। फिर वो दिल्ली कहाँ रहीं। तब तो हमारे बाबू आगरे में नौकर थे। दिप्पो बीबी की शादी के बाद हम लोग दिल्ली आ गये। अप्पी बीबी को पढ़ने-लिखने का बहुत शौक था। बहुत अच्छे नम्बरों से पास होती थीं। कमरा किताबों से भरा रहता था। लेकिन... (**हँसता है**)... यहाँ आ कर बीबी का सब पढ़ना-पढ़ाना धरा रह गया

और (**लम्बी साँस ले कर**) जिस भानजी के लिए आयी थीं, वह साल भर ज़िन्दा नहीं रही ।

पार्वती : भानजी चली गयी तो क्या हुआ । भगवान अपना बच्चा-बच्ची बनाये रखें । धन-दौलत का क्या है । अब भी हज़ारों-लाखों से अच्छे हैं । कर्ज़ तो लाला जी ने सारा उतार दिया है । दिन-रात लगे रहते हैं बेचारे अपनी सुध-बुध खो कर । मुझे तो कभी-कभी तरस आता है उन पर !

दीशी बारजे से किताब खोले, कविता याद करता आता है और अन्दर आ कर किताब पीठ-पीछे करके खड़ा हो जाता है—गोरा-चिट्टा, निक्कर-कमीज़, मोज़े और चमचम पालिश किये हुए जूते पहने । कमीज़ के ऊपर रंगीन धारीदार स्वेटर है, बाल सँवरे हैं । बहुत ही सुन्दर और स्मार्ट लग रहा है ।

दीशी : (**आदेश भरे स्वर में**) तुम लोग यहाँ क्या कर रहे हो । चलो, नीचे जा कर बैठक ठीक करो । दिलीप मामा आने वाले हैं । अगर उन्हें बारहदरी पसन्द न आयी तो...

किशन सिंह : (**क्षण भर उसकी ओर देखता है । दीशी वैसे ही तना खड़ा है । हल्की-सी हर्ष और गर्व-भरी मुस्कान बूढ़े किशन सिंह के चेहरे पर फैल जाती है । मुस्करा कर वह उसका गाल प्यार से छू लेता है और बड़े अदब से हाथ जोड़ते हुए सिर झुका कर कहता है ।**) बहुत अच्छा बड़े लाला, अभी जा कर मिनटों में बैठक ठीक कर देते हैं । (**पार्वती से**) चलो पार्वती !

सन्तुष्ट हो कर, दीशी फिर किताब खोल लेता है और मंच के किनारे दोनों ओर के दरवाज़ों के बीच घूमता हुआ सस्वर कविता याद करता

है—'कहाँ रुकेगी टोली बच्चो, कहाँ रुकेगी टोली यह मत पूछो हम बच्चों की कहाँ रुकेगी टोली'

पार्वती : तुम चलो किशन सिंह, मैं आती हूँ। इतनी मेहनत से कमरा ठीक किया है। चीज़ें अपनी जगह रखी हैं। बच्चे पल भर में सब बिगाड़ देंगे।

दीशी : **(वहीं से कड़क कर)** तुम लोग शोर नहीं मचाओ। मुझे कविता याद करने दो। अम्मा ने कहा है, दिलीप मामा को ठीक के सुना दोगे तो तुम्हें गेंद-बल्ला ले देंगे। निम्मो गेंद फेंकेगी और हम इतने ज़ोर से हिट लगायेंगे कि गेंद आसमान तक···

लेकिन वाक्य पूरा नहीं कर पाता, क्योंकि दोनों बाँहों में काल्पनिक बैट पकड़े, हिट लगाने के प्रयास में बैलेंस खो देता है और न केवल किताब उसके हाथ से छूट कर दूर जा गिरती है, वरन् वह स्वयं भी गिरता-गिरता बचता है।

किशन सिंह : **(किताब उठा कर और झाड़ कर उसे वापस देते हुए)** बड़े लाला साहब, आप हमारे साथ नीचे चलिए और अपने सामने बैठक ठीक कराइए।

दीशी : नहीं, तुम लोग जाओ ! दिलीप मामा आयेंगे तो उनका स्वागत कौन करेगा। अम्मा ने कहा है कि दिलीप मामा आयें तो उन्हें नमस्कार करना, बैठाना और चाय-पानी पूछना।

पार्वती : अभी निम्मो आयेगी और तुम दोनों लड़ने लगोगे।

दीशी : निम्मो ऊपर छत पर अपनी कविता याद कर रही है। हम यहाँ याद करेंगे। तुम लोग जाओ—जाओ !

किशन सिंह : **(सरगोशी में पार्वती से)** मैं जाता हूँ। बैठक को साफ़ करता हूँ। ज़रूरत पड़ी तो तुम्हें आवाज़ दूँगा। तुम यहीं

बारजे पर रह कर ध्यान रखो कि कुछ गड़बड़ न करें।

दीशो : हम कुछ गड़बड़ नहीं करेंगे। तुम जाओ और बैठक फ़ौरन टिच-टाच कर दो !

दोनों चले जाते हैं। किशन सिंह बायीं ओर को नीचे चला जाता है। पार्वती दायीं ओर को बारजे पर छिप जाती है। दीशो कविता याद करता हुआ घूमता है।

— : **(किताब बन्द किये, सामने देखता हुआ, कविता सस्वर याद करता है :)**

कहाँ रुकेगी टोली बच्चो ! कहाँ रुकेगी टोली
यह मत पूछो हम बच्चों की कहाँ रुकेगी टोली ॥
धूप-छाँव, तूफ़ान-बवण्डर रोक न हमको पायें।
हम जब चाहें सागर-पर्वत पार तुरत कर जायें ॥

बारजे से निम्मो अपनी किताब लिये, कविता याद करती आती है। सुन्दर फ्रॉक पहने है। घुँघराले बाल माथे और कन्धों पर फैले हैं।

निम्मो : मुन्नी बिटिया रानी है
लाडो बड़ी सियानी है

दीशो : निम्मो, शोर न मचाओ ! हमें कविता याद करने दो।

निम्मो : क्यों, हम न याद करेंगे ! अम्मा ने कहा है, दिलीप मामा को कविता सुनाओगी तो यहीं तेरी गुड़िया का ब्याह रचायेंगे। कान्ता अपनी गुड़िया का ब्याह शीला के गुड्डे से रचा रही है। हम अपनी गुड़िया का ब्याह लाजो के गुड्डे से रचायेंगे।

दीशो से उल्टी ओर को कविता याद करती हुई जाती है।

कुछ क्षण दोनों जोर-जोर से अपनी-अपनी

कविता याद करते और एक दूसरे के पास से गुज़रते हुए मंच पर घूमते हैं।
दीशी का ध्यान बिल्कुल सामने है। वह पूरी एकाग्रता से कविता रटे जाता है। निम्मो कभी-कभी उसकी ओर देख लेती है। फिर रुक कर कहती है :

निम्मो : अम्मा ने कहा था—जो पीढ़े पर बैठ कर किताब नहीं पढ़ेगा, उसे कोच्छ नहीं मिलेगा! हम तो भाई पीढ़े पर बैठ कर पढ़ेंगे।

जा कर दायीं ओर के पीढ़े पर बैठ जाती है। दीशी क्षण भर घूमता है। फिर वह बायें पीढ़े पर आ कर बैठ जाता है। एक बार बच्चों की टोली को सम्बोधित करता है, फिर निम्मो की ओर झुकता है।

दीशी : तुम अपनी गुड़िया की शादी हमारे साथ कर दो।

निम्मो : वाह तुम्हारे साथ कैसे कर दें। हमने उसकी सगाई लाजो के गुड्डे के साथ तय की है।

दीशी : (**अनुनय के स्वर में**) कर दो—!

निम्मो : कैसे कर दें?

दीशी : नहीं करोगी तो हम तुम्हारी गुड़िया को उड़ा ले जायँगे।

निम्मो : (**बड़ी-बूढ़ियों की तरह**) अरे बुद्धू, तुम उसके मामा लगते हो। तुम्हारे साथ उसका ब्याह कैसे हो सकता है?

दीशी : कैसे नहीं हो सकता? किशन सिंह कह रहा था कि अम्मा की शादी दिलीप मामा से होने वाली थी।

निम्मो : पर दिलीप मामा हमारे सगे मामा थोड़े ही हैं। तुम तो मेरी गुड़िया के सगे मामा हो बुद्धू!

दीशी : **(निराशा से चिढ़ कर)** मुझे बुद्धू कहती है। दूँ एक झापड़ ! **(मारने को हाथ उठाता है।)**

निम्मो : **(निम्मो चिल्लाती है)** अम्मा !

पार्वती भागी आती है और दीशी का हाथ पकड़ कर उसे सीधा बैठा देती है।

सीढ़ियों पर लाला प्राणनाथ की आवाज़ सुनायी देती है। दोनों बच्चे सीधे हो कर होंठों में कविता पढ़ने लगते हैं।

प्राणनाथ : **(पर्दा उठा कर अन्दर आते हैं और पलट कर सीढ़ियों में देखते हुए कहते हैं)** सँभल कर आइए। पुरानी हवेली है। बाहर की रोशनी से आयें तो सीढ़ियाँ अँधेरी लगती हैं। **(ज़रा हँस कर)** हमें तो आदत है। आँख बन्द कर के चढ़-उतर जाते हैं।

कुछ क्षण बाद दिलीप हाथ में अटैची लिये हुए प्रवेश करता है। सुन्दर, गोरा, पतला-छरहरा, बढ़िया सूट लापरवाही से पहने हुए। आँखें गहरी, लेकिन बेचैन; बाल घुँघराले और बेतरह बिखरे। उसके सरापे में एक अव्यक्त बेचैनी और बेपरवाही है, जो अनायास आकर्षित करती है। हाथ में उसके सूटकेस है, जिसे वह अन्दर आते ही पलँग पर रख देता है और पार्वती बढ़ कर उठा लेती है।

प्राणनाथ : **(उसी तरह क्षमा-भरी हँसी से)** भला आगरे और दिल्ली के मुकाबिले में आपको यह अखतूर क्या पसन्द आयेगा और उसमें भी हमारा यह सीला, पुराना घरौंदा।

दीशी और निम्मो चोर आँखों से देखते हैं

और फिर किताबों पर ध्यान जमा लेते हैं और होंठों में अपनी-अपनी कविता पढ़ते हैं ।

दिलीप : (**वहीं सीढ़ियों के पास**) मुझे तो यह नन्हा-सा पहाड़ी कस्बा बेहद अच्छा लगा और उसमें भी आपकी यह हवेली ! (**एक नज़र चारों ओर कमरे में डाल कर हँसते हुए**) दिल्ली के बँगले और फ़्लैट इसका क्या मुकाबिला करेंगे । जो ताज़ा और साफ़ हवा इसे मयस्सर है, वह धूल और धुएँ-भरे नगरों के भाग्य में कहाँ !

दोनों ज़रा आगे आते हैं । तभी पहले निम्मो और उसके पीछे दीशी अपनी-अपनी किताबें लिये भागे आते हैं ।

निम्मो : मामा जी नमस्ते !

दीशी : मामा जी नमस्ते !

दिलीप : (**दोनों के गाल थपथपाते हुए**) नमस्ते...नमस्ते (**निम्मो को गोद में उठा कर**) क्या नाम है तुम्हारा ?

निम्मो : निम्मो !

दिलीप : (**किताब की ओर संकेत करते हुए**) क्या पढ़ रही हो ?

निम्मो : कविता !

दिलीप : सुनाओ !

निम्मो : (**एक ही साँस में बिना विराम के कविता सुनाती है :**)

मुन्नी बिटिया रानी है
लाडो बड़ी सियानी है
घर के सब करती है काम
करती नहीं ज़रा आराम
मात-पिता को प्यारी है
मुन्नी राज दुलारी है

दिलीप : वाह-वा, तू तो सचमुच राजदुलारी बिटिया है ।

उसे चूम कर उतार देता है। निम्मो जब दिलीप को कविता सुना रही होती है तो प्राणनाथ के चेहरे की रुखाई क्षण भर को विलीन हो जाती है। और जब दिलीप उसे चूम कर गोद से उतार देता है तो वे उसे गोद में उठा कर चूम लेते हैं।

प्रकट ही दीशी को इससे ईर्ष्या होती है और वह आगे बढ़ता है।

दिलीप : अप्पी कहाँ है ?

पार्वती : सुबह से सफ़ाई-उफ़ाई में लगी थीं। नहाने गयी हैं। अभी आयेंगी।

दीशी : **(आगे बढ़ कर)** मैंने निम्मो से भी अच्छी कविता याद की है।

दिलीप : **(अतिरिक्त नाटकीयता से)** अच्छा-ा-ा ! **(उसे बग़लों में हाथ दे कर उठा लेता है)** क्या नाम है तुम्हारा ?

दीशी : **(छटपटा कर उसके हाथों से निकल कर सीधे खड़े होते हुए)** दीशी—

दिलीप : शाबाश ! सुनाओ !!

दीशी दर्शकों की ओर मुँह करके पूरे हाव-भाव से बच्चों की टोली को सम्बोधित करता है। तभी प्राणनाथ उसे रोक देते हैं।

प्राणनाथ : अरे बेटे, अपने मामा को बैठने तो दो। फिर कविता सुनाना। **(पार्वती से)** कहाँ प्रबन्ध किया है अप्पी ने दिलीप बाबू के ठहरने का ?

पार्वती : ऊपर बारहदरी तैयार है। किशन सिंह नीचे बैठक झाड़ रहा है।

दिलीप : **(कुर्सी घसीट कर उस पर बैठते हुए)** नहीं, हम पहले जगदीश बेटे की कविता सुनेंगे।

प्राणनाथ : **(दीशी से, जो फिर प्यारे बच्चों को उपदेश देने के लिए तैयार है)** जाओ बेटा, अपने मामा को साथ ले जा कर बारहदरी दिखाओ। इनका सामान रखवाओ। वहीं अपने मामा को कविता भी सुनाना।

दीशी : **(प्रसन्न हो कर सोत्साह)** चलिए मामा जी, आपको बारहदरी दिखायें।

दिलीप की उँगली पकड़ता है। दिलीप उठता है।

—— : **(आगे-आगे जाते हुए सहसा मुड़ कर)** पर उसमें बारह दरवाज़े नहीं, बारह खिड़कियाँ हैं।

दिलीप : **(उसी अतिरिक्त नाटकीय आश्चर्य से)** अच्छा-ा-ा !

दीशी : पर कहीं खोल कर न बैठिएगा। यहाँ बन्दर इतने शैतान हैं कि ज़रा खिड़की खुली रह जाय तो चुप से आ कर जो हाथ आये, ले जाते हैं।

दिलीप : फिर खिड़कियों का फ़ायदा ही क्या है ?

दीशी : निचले किवाड़ों में जालियाँ लगी हैं। आधी खिड़कियाँ हमेशा खुल सकती हैं।

दोनों आगे-आगे और पीछे अटैची लिये पार्वती बारजे में गुम हो जाते हैं। प्राणनाथ निम्मो को गोद में लिये हुए कुर्सी पर बैठ जाते हैं।

निम्मो : **(गोद से उतरने की कोशिश में)** मैं भी जाऊँगी।

प्राणनाथ : तू तो बहुत अच्छी बेटी है। अपने माता-पिता का कहना मानती है। दीशी तो गन्दा है। देख, तुझसे एक ज़रूरी बात कहनी है। तेरे मामा थके आये हैं। उन्हें आराम करना है। तू मेरे साथ दुकान पर चलना। तू चलेगी तो दीशी भी जायगा और तेरे मामा आराम कर सकेंगे।

तेरी अम्मा से बातचीत कर सकेंगे। कल तो उन्हें चले जाना है। अच्छा !

निम्मो : अच्छा।

प्राणनाथ : मैं तुझे लोटू की दुकान से बढ़िया मिठाई ले दूँगा।

निम्मो : अम्मा ने कहा था—तू मामा जी को बढ़िया कविता सुनायेगी तो तेरी गुड़िया के नये पटोले ले देंगे। उसका दहेज तैयार कर देंगे और उसकी शादी रचायेंगे।

प्राणनाथ : मैं तुझे गुड़िया के सारे पटोले और दहेज का सामान अभी बाज़ार से ख़रीद दूँगा।

निम्मो : दीशी कहता था, तू अपनी गुड़िया की शादी मुझसे कर दे। कितना बुद्धू है। भला मामा के साथ भानजी की शादी हो सकती है ?

प्राणनाथ : मूर्ख है। नहीं हो सकती।

निम्मो : कहता था, दिलीप मामा के साथ अम्मा की शादी होने वाली थी...

प्राणनाथ : (**लम्बी साँस को सीने में दबाते और निम्मो के सिर पर प्यार से हाथ फेरते हुए**) बदमाश है। गन्दी बातें सुनता और सीखता है। तेरी गुड़िया को हाथ लगायेगा तो उसे पीटेंगे।

लेकिन उनके भाव से कभी नहीं लगता कि वे दीशी को पीटेंगे। निम्मो को प्यार से गले लगा लेते हैं।

अप्पी बारजे से प्रवेश करती है। सद्यःस्नाता, चेहरे पर हलका-सा बेमालूम पाउडर, आँखों में काजल की बारीक-सी लकीर और होंठों पर नेचुरल शेड की हलकी-सी सुर्ख़ी। सफ़ेद सिल्क की साड़ी और काले रंग का ब्लाउज़ पहने है।

गले में सुच्चे मोतियों की माला। कानों में एक-एक बड़े मोती के टॉप्स और दायीं बाँह में मोती जड़ा सुनहरा कंगन। कन्धे पर कश्मीरी शाल डाले है, जिसके ऊपर उसके रेशमी बाल कमर तक लहरा रहे हैं। वह दो-तीन घण्टे पहले की उदास, चिड़चिड़ी और जवानी में ही अधेड़ दिखायी देने वाली अप्पी, मानो किसी मंत्र के बल से, पारे की-सी चमक और चांचल्य पा गयी है। आठ बरस पहले जिस प्रलयकारी सौन्दर्य की एक चिनगारी ने प्राणनाथ की निष्प्राण इच्छाओं में प्राण सुलगा दिये थे, उसकी एक झलक इस समय अप्पी के मुख पर देदीप्यमान है और वह अखनूर को ललायिन के बदले दिल्ली के किसी कॉलेज में पढ़ने या पढ़ाने वाली सुन्दर-सम्भ्रान्त युवती लगती है।

प्राणनाथ कुछ क्षण उसे मन्त्र-मुग्ध देखते रहते हैं। फिर उनके चेहरे पर एक उदास मुस्कान खेल जाती है।

प्राणनाथ : नहा आयीं !

अप्पी : दिलीप नहीं आये ?

प्राणनाथ : आ गया है ! (**दूसरी कुर्सी की ओर संकेत करते हुए**) बैठो ! दीशी और पार्वती उसे ऊपर बारहदरी दिखाने ले गये हैं।

अप्पी : मैंने किशन सिंह को बैठक ठीक करने के लिए कह दिया है। रात सर्दी हो जाती है। शायद उन्हें बैठक की ज़रूरत पड़े।

प्राणनाथ : तुम्हारी तबियत कैसी है अब ?

अप्पी : ठीक हूँ। सिर दर्द करता था, पर आपने कहा था—कमरा ठीक करने को, सो एस्परीन की दो टिकिया ले लीं और सफ़ाई में लग गयी। पहले खाना पका कर आपको भिजवाया। फिर यह कमरा ठीक किया। दीवाली में रंग तो कराया था, पर एक महीने में ही जाले लग गये थे। दीवारों पर मिट्टी जमी थी। सब झाड़ा-पोंछा और पार्वती को पर्दे टाँगने के लिए कह कर ऊपर गयी। बारहदरी ठीक की। तभी आपका सन्देश आया कि दिलीप दुकान पर आ गये हैं। सो मैं किशन सिंह को बैठक साफ़ करने के लिए कह कर नहाने चली गयी। कहिए पसन्द आया कमरा। अब तो आपको शिकायत नहीं।

कुर्सी खींच कर बैठ जाती है और अपने आप ज़रा-सा हँस देती है।

प्राणनाथ : मुझे कुछ भी शिकायत नहीं। बस तुम ठीक रहो। खुश और स्वस्थ रहो...

अप्पी : मैं ठीक हूँ।

प्राणनाथ : तुमने कुछ खाया या नहीं। फिर बातों में लग जाओगी। जाओ, जल्दी से कुछ खा लो। तब तक मैं यहाँ बैठता हूँ। दुकान पर आसामी बैठे हैं और मुझे जल्दी जाना भी है।

अप्पी : मैं व्रत से हूँ। अभी मुझे भूख नहीं। थोड़ी देर बाद फल-वल ले लूंगी। यूं मैंने गाजर का हलवा बना रखा है। मन हुआ तो वही ले लूंगी।

प्राणनाथ : तुम औरतों का कुछ भी पता नहीं चलता। आठ साल से एक आर्यसमाजी घर में रह रही हो और अब तुमने मूर्ति-पूजा शुरू कर दी है। ये गणेश और लक्ष्मी और ये

राधाकृष्ण...भला मिट्टी की मूर्तियों से भी कुछ मिलता है।

अप्पी : मिट्टी की मूर्तियाँ तो प्रतीक हैं। आप जैसे ज्ञानी निराकार भगवान में मन लगा सकते, **(हँसती है)** पर हम जैसे अज्ञानियों को ये मिट्टी की मूर्तियाँ ही शान्ति देती हैं। मुझे यह राधाकृष्ण की मूर्ति बहुत सुन्दर लगती है। **(बात बदल कर)** मैंने खाने के साथ गाजर का हलवा भेजा था। कैसा लगा आपको ?

प्राणनाथ : बना तो अच्छा था। दुकान के काम में ध्यान नहीं रहा कि तुम व्रत से हो। पर काली गाजर का हलवा...कहो तो लोटू की दुकान से लाल गाजर का हलवा भेज दूँ। खाना तो दिलीप खा आया है, पर वह भी मुँह मीठा कर लेगा।

अप्पी : भेज दीजिएगा। पूछ लूँगी। अभी तो बड़े लाला जी के यहाँ खा आये हैं, पर मुझे शाम के खाने की चिन्ता है। जबसे उनके आने का सुना है, लगातार तरकारियों की ही सोच रही हूँ। यहाँ तो कुछ मिलता नहीं सिवा मूली-गाजरों और मुए कड़म के साग के।

प्राणनाथ : मैंने बरकत ड्राइवर से कह दिया था। वह जम्मू से तरकारियाँ लेता आयेगा। मैं खुद बस पर जा कर ले आऊँगा।

आगे-आगे दीशी हाथ में अठन्नी लिये हुए और उसके पीछे दिलीप बारजे से आता है।

दिलीप ने सूट उतार दिया है और कमीज़-पायजामे के ऊपर बटनों वाला कार्डिगन पहने है, जो उस पर बहुत फबता है। कार्डिगन की जेब में सिगरेट की डिबिया का सिरा दिखायी देता है।

दिलीप : हैल्लो अप्पी !

अप्पी : (**उठ कर दोनों** हाथ जोड़ देती है और **निर्निमेष उसकी ओर देखती रहती है।**)

दिलीप : (**पास आ कर कद्रे बेतकल्लुफ़ और कद्रे सरपरस्ती-भरे भाव से उसके कन्धे को थपथपा कर**) कहो कैसी हो ?

अप्पी : (**थोड़ी लजा कर**) ठीक हूँ। आप कहिए। कोई कष्ट तो नहीं हुआ ?

दिलीप : कष्ट नहीं हुआ ! (**ज़ोर से ठहाका लगाता है।**) यह पूछो, क्या कष्ट नहीं हुआ ! वह बस कमबख्त ऐसे रास्ते से आयी कि हड्डियाँ चटख़ गयीं।

अप्पी : आप डाक लारी से नहीं आये। वह तो नहर के किनारे-किनारे आती है।

दिलीप : मुसाफ़िरों ने तो कहा था नहर से चलने को, लेकिन ड्राइवर बोला, पुल टूट गया है, वहाँ से लारी नहीं जा सकती।

अप्पी : कोई कायर होगा। बरकत तो नहर पर से ले आता है और पैंतालिस मिनट में पहुँच जाता है।

दिलीप : पैंतालिस ! यह तो पौने दो घण्टे में लाया और फिर ऐसे रास्ते से कि हिचकोलों के मारे दम निकल गया।

प्राणनाथ : सड़क से आयी होगी लारी।

दिलीप : उस ऊबड़-खाबड़ रास्ते को आप सड़क कहते हैं ! इतने पथरीले नाले रास्ते में पड़ते हैं, पर किसी पर भी तो पुल नहीं। मैं सोचता हूँ, बरसात के दिनों में लोग कैसे आते होंगे। मुझे पहले से मालूम होता तो मैं नाव से आता।

अप्पी : (**हँसती है। कण्ठ में घण्टियाँ-सी बज उठती हैं**) और साँझ को अखनूर पहुँचते। पेट में चूहे दौड़ने लगते, पर

जनाब अपनी सनक में नदी की लहरें गिनते, पुलों के ऊपर-नीचे से गुज़रते, चींटी की चाल चले आते।

प्राणनाथ : (**दिलीप से**) आपको बारहदरी तो पसन्द आयी ?

दिलीप : पसन्द ! मेरी तो तबियत ख़ुश हो गयी। आप हवेली के पुरानेपन की बात कर रहे थे। आपकी हवेली तो भाई ऐसी सुन्दर जगह बनी है कि सामान रख कर और कपड़े बदल कर मैं छत पर निकला तो बस, तबियत ख़ुश हो गयी ! न सिर्फ़ छत पर से सारे कस्बे के घरों की छतें और ममटियाँ दिखायी देती हैं, बल्कि कस्बे के पार, दृष्टि की सीमा तक बिखरे पहाड़ और उनकी चोटियाँ ! रात शायद कश्मीर मे बर्फ़ पड़ी है, क्योंकि पास के पहाड़ों की नंगी चोटियों पर हल्की-हल्की बर्फ़ की धारियाँ तेज़ धूप में बिल्लौर-सी चमक रही हैं।

क्षण भर रुकता है, लेकिन प्राणनाथ कुछ नहीं कहते, चुपचाप उसकी ओर देखते रहते हैं।

अप्पी : (**जो मंत्र-मुग्ध उसकी ओर देख रही थी, सहसा**) आप कहीं यहाँ रहें तो देखें कि कैसे धीरे-धीरे वह बर्फ़ पहाड़ों पर नीचे की ओर बढ़ती है; कैसे एक दिन पहाड़ का सीना चमकती बर्फ़ानी चादर से ढक जाता है और धूप में उस पर आँखें नहीं टिक पातीं।

दिलीप : (**अपनी ही रौ में**) उन बिल्लौरी चोटियों को देखते-देखते पलटा तो चौथी ओर, दूर तक नदी बहती दिखायी दी। कोई आदमी कुछ लट्ठों को जोड़े, हाथ में बड़ा-सा बाँस लिये, उन पर खड़ा, अनायास तिरता जा रहा था। मैं तो मन्त्र-मुग्ध खड़ा न जाने कब तक देखता रहता, यदि दीशी अचानक चिल्ला न उठता।

दीशी : (**आगे बढ़ कर**) वो किंगकाँग मामा जी की पतलून उठाने जा रहा था लाला जी !

दिलीप : मैंने पतलून खूँटी पर टाँगने के बदले वहीं अटैची पर रख दी थी। उसी को उठाने के फेर में था। दीशी न चिल्लाता तो ले ही गया था। बहुत बड़ा बन्दर है। दीशी उधर लपका तो न डरा, न भागा, वहीं बैठा खौखियाने लगा। खूब नाम दिया है आपने उसे—किंगकाँग।

प्राणनाथ : (**हँसते हैं**) मैंने नहीं, अप्पी ने दिया है। आपको याद होगा, जब बहुत पहले दिप्पो के चले जाने के बाद मैं दिल्ली गया था और हम कुतुब-उतुब देखते घूमे थे—उन्हीं दिनों हमने एक भयानक फ़िल्म देखी थी, जिसमें एक बनमानुस एक सुन्दर लड़की को उठा ले जाता है। अप्पी उसे नहीं भूली। यह बन्दर उतना बड़ा नहीं, पर है वैसा ही निडर और भयानक !

अप्पी : सब खिड़कियाँ और किवाड़ लगाये रखती हूँ, फिर भी कहीं-न-कहीं से कुछ-न-कुछ ले ही जाता है। (**बात बदल कर निम्मो से**) क्यों निम्मो, तुमने अपने मामा को कविता सुनायी या नहीं।

दिलीप : इसने बड़ी सुन्दर कविता सुनायी। बच्ची तुम्हारी बड़ी प्यारी है। (**बढ़ कर निम्मो के गाल को हल्के-से थपथपाता है।**)

दीशी : हमने भी सुनायी अम्मा और मामा ने हमें अठन्नी इनाम दी है। (**जेब से अठन्नी निकाल कर उछालता है।**)

निम्मो : (**अठन्नी की ओर ईर्ष्या से देखती है और पिता के गले से लिपट कर मिनमिनाती है**) लाला जी ! हम भी अठन्नी लेंगे।

दिलीप : लो हम तुम्हें भी अठन्नी देते हैं। **(जेब से अठन्नी निकालता है ।)**

प्राणनाथ : **(हाथ से रोकते हुए)** नहीं, रहने दीजिए। मैं दे दूँगा इसे। अभी मैं इसे साथ ले जा रहा हूँ। अप्पी ने इसकी गुड़िया की शादी करने का वादा किया है। मैं इसे अभी इसकी गुड़िया के पटोले और गहने ले दूँगा। बड़ी प्यारी है हमारी निम्मो बेटी। **(उसे गले से लगा लेते हैं।)**

दिलीप : मामा की ओर से भी एक गहना और कपड़े ले दीजिएगा दहेज में। **(हँसते हुए बरबस अठन्नी दे देता है।)**

दीशी : **(मुँह बिसूरता हुआ)** और हम ! हमें अम्मा ने गेंद-बल्ला ले कर देने को कहा था।

प्राणनाथ : अभी हमारे साथ चलो तो ले दें। **(उठ खड़े होते हैं)** अच्छा भई अप्पी, मैं चलता हूँ। दुकान में बहुत लोग बैठे हैं।

निम्मो को गोद में उठा कर दायें हाथ से दीशी की उँगली पकड़े चलते हैं। दिलीप और अप्पी साथ-साथ चलते हैं।

दीशी : हम विकटें भी लेंगे।

प्राणनाथ : विकटें क्या छत पर गाड़ोगे !

दीशी : नहीं गली में गाड़ेंगे। निम्मो खेलेगी तो हम ऐसे ज़ोर से गेंद फेंकेंगे।

दायाँ हाथ पूरा घुमा कर गेंद फेंकने का अभिनय करता है और गिरता-गिरता बचता है।

प्राणनाथ : बच के !

दीशी : **(सँभल जाता है)** तीनों विकटें उखाड़ देंगे निम्मो की—हाँ !

निम्मो : **(पिता की गोद में चढ़े-चढ़े)** हम तुम्हारी उखाड़ देंगे।

प्राणनाथ : **(सीढ़ियों के पास पहुँच कर मुड़ते हैं)** अच्छा तो दिलीप बाबू, मुझे इजाज़त दीजिए। रात को बैठेंगे। आज आप नहीं जा सकते। **(अप्पी से)** अप्पी भई, इन्हें समझाओ! यह क्या कि चढ़े घोड़े पर सवार आये। शाम को जाने में कोई तुक नहीं। इतने वर्षों पर आये हैं तो कुछ दिन रहें। **(पर्दा उठा कर पहले बच्चों को उतारते हैं। फिर स्वयं उतरते हैं। फिर एक बार मुड़ते हैं)** और देखो कुछ खा लेना! तुम्हारी तबियत ठीक नहीं। भूखी बैठी बातों में न लगी रहना। **(चले जाते हैं।)**

दिलीप : **(वापस आते हुए)** कितने प्यारे बच्चे हैं तुम्हारे! तुमने तो सच, स्वर्ग बसा रखा है अप्पी!

अप्पी : हाँ स्वर्ग बसा रखा है!

लम्बी साँस लेती हुई कुर्सी में धँस जाती है।

दिलीप : **(क्षण भर चुपचाप घूमता है)** याद है, आठ वर्ष पहले हम ने भी ऐसा स्वर्ग बसाने की कल्पना की थी।

अप्पी : **(सामने देखते हुए—लम्बी साँस दबाती है)** सदियों-से आठ बरस!

दिलीप : **(चुपचाप घूमता है)** तुमने अपना नन्हा-सा स्वर्ग बसा लिया। तुम्हारा एक सजा-बजा सुन्दर घर है, प्यारे बच्चे हैं, प्यार करने वाला पति है, लेकिन मैं . मैं न जाने किन अग्नि परीक्षाओं से गुज़र गया!

अप्पी : आज़ादी की आग में तप कर कुन्दन बन गये तुम। तुम्हारा नाम है, यश है, जहाँ जाते हो, लोग आँखें बिछाते हैं और मैं...**(दर्द से हँसती हुई)**...जो बड़ी तोप कवयित्री बनने जा रही थी...**(क्षण भर चुप सामने देखती रहती है)**...अजानी अटूट बेड़ियाँ मेरे पाँवों को जकड़ती चली गयीं...

दिलीप : (**सहसा मुड़ता है, एक टक उसे देखता है ।**) बेड़ियाँ... अप्पी, तुम ख़ुश नहीं हो ।

अप्पी : (**उदासी से मुस्कराती है ।**) ठीक हूँ । सन्तुष्ट हूँ ।

उठती है । जा कर अलमारी खोलती है, ऊन का गोला, सिलाइयाँ और डेढ़-दो इंच बुना स्वेटर निकालती है ।

दिलीप उसके पीछे-पीछे जाता है ।

दिलीप : भाई साहब कहते थे, तुम बीमार रहती हो । ज़रूर पहले से कुछ कमज़ोर हो गयी हो !

अप्पी : (**उसके साथ-साथ वापस आते हुए हँस कर**) मुझे तुम कमज़ोर लगते हो ।

आ कर कुर्सी पर बैठ जाती है और बातें करते हुए सिलाइयाँ चलाने लगती है ।

दिलीप : मैं ! (**हँसता है**) मैं तो अच्छा-भला हूँ । इतना लम्बा सफ़र—दिल्ली से लाहौर, फिर सियालकोट, फिर जम्मू—और फिर जम्मू से अखनूर । थक गया हूँ ।

आ कर बिस्तर पर लेट जाता है ।

अप्पी : (**उसी तरह बैठी रहती है—सामने शून्य में देखती हुई**) मुझे भी लगता है, जैसे मैं बहुत लम्बा सफ़र तय कर आयी हूँ और थक गयी हूँ । (**फिर सिर को झटका दे कर और बरबस हँस कर उठती है ।**) पर छोड़ो इस किस्से को ! खाना तो तुम खा आये हो, थोड़ा मुँह मीठा करोगे !

दिलीप : (**करवट बदल कर कोहनी के बल अधलेटा हो जाता है ।**) मैं तो भूल ही गया, तुमने तो अभी तक खाया ही नहीं । बस के धचकों में मुझे कुछ भूख लग आयी थी । लाला दीवान चन्द ने खिला भी बहुत दिया । जाओ तुम खा आओ !

अप्पी : मैं तो हफ़्ते में एक बार फलाहार करती हूँ। पर आज थोड़ा हलवा पकाया है। तुम चखो तो तुम्हारे बहाने मैं भी खा लूँ।

दिलीप : तो लाओ। नेकी और पूछ-पूछ ! (**हँसता है**) देखें, खाना पकाने में तुमने कितनी तरक्की कर ली है। कभी तुम अपने हाथ से पकाओगी और खिलाओगी, यह तो सपने में भी नहीं सोचा था।

अप्पी : मुझे तो यहाँ आ कर सब कुछ भूल गया। आज जाने कितने दिनों बाद किचन में गयी हूँ। पर काली गाजरों का हलवा है। जाने तुम्हें पसन्द भी आयेगा या...

दिलीप : वो किसी ने कहा है न, हुस्ने-सूरत पर न जाओ ! सो हम भी सीरत के कायल हैं और तुम तो ज़हर को भी छू दो तो अमृत बन जाय।

फिर सीधा हो कर लेट जाता है।

अप्पी : (**जाते हुए मुस्करा कर कनखियों से देखती हुई**) बातों के तुम पुराने धनी हो, मैं तुमसे कभी नहीं जीत सकती।

दिलीप : तुम हमेशा जीत जाती थीं।

अप्पी : पार्वती ..पार्वती...

नौकरानी को आवाज़ देती हुई चली जाती है।

दिलीप : (**कुछ क्षण सीधा लेटा रहता है। फिर बड़े ही सोज़ से ग़ालिब के शेर गुनगुनाता है :**)

दैर नहीं हरम नहीं, दर नहीं आस्ताँ नहीं,
बैठे हैं रहगुज़र पे हम कोई हमें उठाये क्यों !

पहली बार धीरे-धीरे गुनगुनाता है, फिर पूरे स्वर से—यहाँ तक कि उसका स्वर पूरे मंच पर गूँज उठता है।

अप्पी दोनों हाथों में हलवे की प्लेटें लिये और उन पर चम्मच रखे प्रवेश करती है।

अप्पी : लो उठो।

दिलीप उठता है। टाँगें बिस्तर से नीचे लटका कर बैठ जाता है। अप्पी उसके पास कुर्सी पर बैठती है।

— : ग़ालिब ने बहुत ही दुख में यह ग़ज़ल लिखी होगी। कितना दर्द भर दिया है उसने इन शे'रों में।

दिलीप : ग़ालिब पक्का रिन्द था, लेकिन वली भी था। कभी-कभी लगता है, जैसे उसने ये शे'र हमारे ही लिए कहे हैं और यही उसकी महानता है!

चम्मच से हलवा खाता है।

अप्पी : मुझे कभी-कभी स्वय लगता है कि जैसे यह ग़ज़ल उसने मेरे ही लिए लिखी है। आज से आठ वर्ष पहले याद है न ओखले की वो शाम, जब हम दोनों जमुना के किनारे बैठे थे और तुमने यह ग़ज़ल सुनायी थी।

दिलीप : वह शाम मैं कभी भूल सकता हूँ क्या! उसी के बाद तो भाई साहब ने तुम्हारे साथ मेरा घूमना मना कर दिया था और न सिर्फ़ भाभी को, बल्कि तुम्हारी माँ को भी डाँटा था : तुम्हें क्यों इतनी छूट दे रखी है कि मुझ जैसे आवारा के साथ बेरोक-टोक घूमो। **(हँसता है)** कभी-कभी भाई साहब की वह डाँट याद आती है तो हँसी भी आती है, क्रोध भी और अफ़सोस भी। वो मुझे बहुत प्यार करते थे। चाहते थे, मैं आवारा न घूमूँ, बेकार कविताएँ न लिखूँ। कानून पढ़ूँ और उनकी तरह वकील बनूँ। **(सव्यंग्य)** और वकील मुझे उन अपराधियों से भिन्न न लगते थे, जिनको वे कानून के पंजे से बचा

लेते थे । कानूनी किताबों की अपेक्षा मुझे कविता करना और आवारा ही सही, घूमना, कहीं बेहतर लगता था ।

फिर एक चम्मच मुँह में डालता है ।

अप्पी : उन दिनों मैं अकेले ही इस ग़ज़ल का यह शे'र गाया करती थी—हाँ वो नहीं ख़ुदापरस्त, जाओ वो बेवफ़ा सही, जिसको हो दीन-ो-दिल अज़ीज़, उसकी गली में जाय क्यों ?—बस, यही एक शे'र ! और इसे गाते-गाते कुछ अजीब-सा नशा मन-प्राण पर छा जाता था ।

दोनों एकटक एक-दूसरे की ओर देखते हैं । फिर अप्पी आँखें झुका लेती है । दिलीप हलवे का एक और चम्मच मुँह में डालता है, प्लेट लिये-लिये उठता है और बात बदल देता है ।

दिलीप : **(एक और चम्मच मुँह में डालते हुए)** हलवा तो तुमने बेहद लज़ीज़ बनाया है और तुम कहती हो, तुम्हें किचन में गये महीनों बीत गये हैं ।

अप्पी : **(अप्पी प्लेट लिये-लिये उठ कर उसके पास आ जाती है)** मुझे तो भूल ही गया सब कुछ । आज तुम्हारे आने पर जैसे सदियों के बाद चौके में गयी हूँ ।

दिलीप : **(एक चम्मच मुँह में डाल कर)** लेकिन तुम्हारे हाथों के पके इस हलवे में तो पहले से भी ज़्यादा मिठास है । **(हँसता है)** मुझे मालूम होता, खाना पकाने में तुमने इतनी सिद्धि पा ली है, तो जैसे भी होता, चला आता ।

अप्पी : तुम आये ही नहीं, दसियों बार हमने सँदेसे भेजे ।

दिलीप : **(प्लेट तिपाई पर रख कर उसकी आँखों में देखता है, जैसे डूब कर उनकी थाह पाना चाहता है, फिर लम्बी साँस को हल्की-सी दर्द-भरी हँसी में बदल देता है । घूमते हुए)** अरे भई तुम आ बैठी यहाँ— काले कोसों दूर ! कहाँ आगरा-

दिल्ली और कहाँ रियासत जम्मू और कश्मीर—और उसमें भी यह गाँव-ऐसा कस्बा, जिसे ढब की एक सड़क भी तो मुयस्सर नहीं ।

जा कर फिर बिस्तर पर लेट जाता है ।

अप्पी : (**आ कर फिर कुर्सी पर बैठती हुई**) आ बैठी ! (**दर्द और व्यंग्य से हँसती है**) जैसे ख़ुद आ बैठी यहाँ । हम ग़रीबों का क्या है, माता-पिता ने जहाँ बैठा दिया, जा बैठीं ।

दिलीप उठ कर उसकी ओर देखता है । लेकिन अप्पी चुपचाप आँखें नीची किये हलवा खा रही है । वह चुपचाप कमरे में घूमने लगता है । दिलीप खिड़की के पास है, जब बारजे पर किशन सिंह आता है ।

किशन सिंह : बीबी जी, बैठक तो बिल्कुल ठीक कर दी है । तख़्त पर नया गद्दा, खेस और चदरा बिछा दिया है । कुर्सियाँ झाड़ दी हैं । बेगाँ फूलों के गुलदस्ते ले कर नहीं आयी । उसने कहलाया था कि वह ख़ुद ले कर आयेगी । जैसे ही आयी, मैं अँगीठी पर सजा दूँगा ।

अप्पी : एक ऊपर बारहदरी में सजा देना ।

किशन सिंह : (**स्वीकार में सिर हिलाता है**) जी बीबी जी ! (**क्षण भर रुकता है कि अप्पी कुछ और तो नहीं कहती, फिर**) बीबी, तुम कहो तो मैं भाग कर ज़रा नदी पर नहा आऊँ । कमरे झाड़ते-झाड़ते धूल से अँट गया हूँ ।

अप्पी : जाओ नहा आओ । फिर आ कर खाना खाओ । पका पड़ा है । पार्वती से कहना, दे देगी ।

किशन सिंह : तुमने बीबी, कुछ खा लिया या नहीं, तुम्हारी तबियत...

अप्पी : मैंने हलवा बनाया था, सो ले लिया । और मुझे कुछ नहीं चाहिए । तुम जाओ । जल्दी नहा आओ । आ कर खाना

खाओ। फिर ज़रा दिलीप जी को दिखा लायँगे बेगाँ का बाग़ और नाला और नदी।

किशन सिंह : (**उत्साहित हो कर ज़रा आगे आ जाता है**) क्या दिलीप बाबू आ गये! (**सहसा उसकी नज़र दिलीप से मिलती है**) दिलीप बाबू नमस्ते।

दिलीप : नमस्ते किशन सिंह, कहो ख़ुश तो हो!

किशन सिंह : आपकी मेहरबानी है। आप कहिए, आप तो सब तरह ख़ुश हैं।

दिलीप : (**हँसता है**) हम तो सदा ख़ुश रहते हैं। (**जा कर उसके कन्धे को थपथपाता है**) तुम तो आठ बरस बाद भी वैसे-के-वैसे लगते हो।

किशन सिंह : कहाँ दिलीप बाबू! अब तो बुढ़ा गया हूँ। वह सकत अब नहीं रही।

दिलीप : (**अप्पी से**) तुमने बहुत अच्छा किया जो किशन सिंह को ले आयीं।

अप्पी : न लाती तो घुट जाती अखनूर के इस सूनेपन में। किशन सिंह मेरा बहुत ख़याल रखता है। (**हलवे की प्लेट ख़त्म करके तिपाई पर रखती है**) किशन सिंह, ये दोनों प्लेटें उठा कर किचन में रख दो। और पार्वती से कहो, पानी के दो गिलास दे जाय!

किशन सिंह बढ़ कर प्लेटें ले जाता है। दिलीप कुछ क्षण वहीं बारजे में खड़ा दूर पहाड़ों को देखता है। फिर सुख की एक लम्बी साँस ले कर अन्दर आते हुए :

दिलीप : कुछ भी हो अप्पी, यदि मैं जानता, तुम इतनी सुन्दर जगह रहती हो तो सफ़र की तमाम मुसीबतों को भूल कर चला आता। (**जा कर खिड़की की सिल से कोहनी**

टिका कर खड़ा हो जाता है) कितना आकर्षक और मनमोहक है यह अखनूर ! **(बारजे की ओर संकेत करते हुए)** उधर तीन तरफ़ गोल घेरा-सा बनाते हुए पहाड़ और इधर चौथी तरफ़ अपनी धुन में मस्त सोया-खोया-सा बहता चनाब ।

पार्वती पानी के गिलास लाती है । अप्पी उठ कर उससे दोनों गिलास लेती है । एक दिलीप को देती और एक से स्वयं घूँट भरती हुई :

अप्पी : तुम कहीं गर्मियों में आते तो चनाब की बहार देखते । सोया-खोया अफ़ीमी-सा यह दिखायी नहीं देता उन दिनों, **(दो घूंट भर कर खिड़की से बाहर कुल्ला करती है)** हज़ार फनों वाले शेषनाग की तरह फुफकारता हुआ बहता है । पुल काँपने लगता है । किनारे पर बने हुए ये घर तक थरथराने लगते हैं । उन्हीं दिनों यहाँ चहल-पहल भी होती है । आस-पास के गाँवों से इतने आम आते हैं और लोग इतने आम चूसते हैं कि छिलकों से बाज़ार पट जाते हैं । जम्मू तो क्या, सियालकोट और गुजराँवाला तक से लोग यहाँ आते हैं और आधी-आधी रात तक बाज़ारों में शोर होता रहता है ।

इस सम्वाद के बीच अप्पी वापस आ कर गिलास पार्वती को देती है । और अलमारी पर से स्वेटर और सिलाइयाँ उठा लेती है ।

दिलीप दो-चार घूँट भर कर और खिड़की के बाहर कुल्ला करके गिलास तिपाई पर रखता है, जिसे पार्वती उठा ले जाती है । अप्पी के सम्वाद के दौरान ही दिलीप पलँग पर जा कर लेट जाता है और जब अप्पी अपनी बात खत्म

करती है तो कोहनी के बल ज़रा-सा उठ कर कहता है ।

दिलीप : शोर दिल्ली में कम नहीं होता । गयी रात तक ट्रक और ट्रामें घड़घड़ाती रहती हैं । ताँगे, छकड़े, हथगाड़ियाँ—इतना हो-हल्ला मचा रहता है कि जी चाहता है—कहीं भाग जायँ—कहीं ऐसी जगह, जहाँ इतना शोर न हो, इतनी आवाज़ें न हों । ठहरे हुए सागर का-सा मौन हो; ऊँघता हुआ-सा, सोया-खोया-सा स्वप्निल वातावरण हो ! तुम्हें मैंने वह कविता सुनायी थी न—लोटस ईटर्ज़ ।

अप्पी : मैं यहाँ आ कर सब कविताएँ भूल गयी हूँ ।

कुर्सी में धँस जाती है और चुपचाप स्वेटर बुनने लगती है ।

दिलीप : (**उठ कर बैठ जाता है**) अरे भई वही, अंग्रेज़ी कवि टेनीसन की, जहाँ ओडिसस के साथी जहाज़ के नष्ट हो जाने पर, एक ऐसे द्वीप में जा पहुँचते हैं, जहाँ एकान्त है, मौन है, अपरिमित सुख और शान्ति का साम्राज्य है । **(पलँग को छोड़ कर कमरे में घूमने लगता है)** उस द्वीप की सोई-खोई मनमोहक सुन्दरता को देख कर वो सब चाहते हैं कि वहीं के हो रहें । लगातार युद्ध और संघर्ष से थके अपने अंगों को अनवरत आराम दें । कमल के फूल खाते रहें और निश्चिन्त सोते रहें **(अप्पी के निकट आ कर)** कभी-कभी मेरा मन भी किसी ऐसे ही द्वीप में जा पहुँचने को बेचैन हो उठता है । यहाँ अखनूर में आ कर लगता है कि मैं उसी द्वीप में पहुँच गया हूँ । ज़िन्दगी यहाँ जैसे कभी न टूटने वाली नींद में सोयी हुई है ।

फिर जा कर पलँग पर लेट जाता है । कहीं पास

की गली में स्त्रियों के झगड़ने की आवाज़ आती हैं, जिसमें पुरुषों की आवाज़ें भी शामिल हैं।

अप्पी : हो-हल्ला और लड़ाई-झगड़ा तो यहाँ भी कम नहीं होता। देखो गली में कैसा हड़कम्प मचा है।

दिलीप : (**करवट ले कर अप्पी के निकट होते हुए, कोहनी के बल लेटे-लेटे**) तुम शायद दिल्ली के शोर को भूल गयी हो अप्पी ! दुनिया के इस शान्त कोने में पहुँच कर तुम्हें शायद याद भी नहीं रहा कि हड़कम्प कैसा होता है। मैं तो जब से आया हूँ, लगातार यह महसूस कर रहा हूँ कि ज़िन्दगी यहाँ आदिम नींद में सो रही है और यह हो-हल्ला और ये झगड़े-झाँझे—ये तो महज़ उसके मीठे-मीठे ख़र्राटे हैं।

अप्पी : क्यों दिलीप, काले पानी में भी तो ऐसी ही शान्ति और मौन होता होगा।

दिलीप : (**फिर उठ कर बैठ जाता है—चकित**) काला पानी !

अप्पी : मुझे कभी-कभी लगता है कि यह अखनूर मेरा काला पानी है और मैं यहाँ ज़िन्दगी भर के लिए क़ैद कर दी गयी हूँ।

दिलीप : (**उसकी आँखों में देखते हुए**) तुम ख़ुश नहीं हो अप्पी !

अप्पी : (**दर्द-भरी मुस्कान से**) ठीक हूँ, सन्तुष्ट हूँ !

दिलीप : (**उठ कर कमरे में घूमते हुए, दार्शनिक भाव से**) यह सारी-की-सारी ज़िन्दगी एक काला पानी है अप्पी, ग़ालिब ने यूँ ही तो ज़िन्दगी को क़ैद का नाम नहीं दिया।

गुनगुनाता है—'क़ैद-ए-हयातो-बन्द-ए-ग़म, अस्ल में दोनों एक हैं, मौत से पहले आदमी ग़म से नजात पाये क्यों'—और फिर जा कर खिड़की की सिल से कोहनी टिका कर खड़ा हो जाता है।

— : (**बाहर की ओर सिर के इशारे से संकेत करते हुए**) यह

इतनी सुन्दरता, यह भी तो समय की कैद में बँधी है और आत्मा, जिसे लोग स्वतन्त्र कहते हैं, तन की दीवारों में बन्दी है और तन ज़िन्दगी की बेड़ियों में जकड़ा हुआ है—इन ज़ंजीरों का कहीं अन्त नहीं। एक बेड़ी से निकल कर दूसरी में और दूसरी से निकल कर तीसरी में फँसना अनिवार्य है। अजानी, अदेखी बेड़ियाँ सदा तन को, मन को, आत्मा को, ज़िन्दगी और उसकी ख़ूबसूरती को जकड़े रहती हैं।

अपनी बात कहते-कहते आ कर फिर साथ वाली कुर्सी पर बैठ जाता है। अप्पी इस बीच निरन्तर चुपचाप स्वेटर बुने जाती है।

अप्पी : तुम हमेशा काव्य की दुनिया में घूमोगे। स्थूल जगत की बात कभी न करोगे।

दिलीप : मैं सोचता हूँ कि जब किसी तरह इस क़ैद से मुक्ति नहीं, यह हर हालत में हमारे साथ लगी है तो क्यों इसकी चिन्ता की जाय। काट सकें तो इन ज़ंजीरों को काटा जाय, नहीं तो इनमें जकड़े-जकड़े इन्हें भुलाया जाय।

अप्पी : तुम कवि हो और मैं तुमसे कभी बातों में नहीं जीत सकती।

दिलीप : लेकिन तुम भी तो कविता किया करती थीं और सदा मुझ से बातों में जीत जाती थीं।

अप्पी : मैं जान गयी हूँ, जीत कर भी तुम हार जाया करते थे और मेरी तुकबन्दियों पर भी सिर धुना करते थे।

ऊन का गोला तिपाई से नीचे लुढ़क जाता है। दोनों उठते हैं। दिलीप उसे उठाता है।

दिलीप : (**ऊन का गोला उसे देते हुए**) कितने अच्छे थे वे दिन!

अप्पी : तुम्हें तो कभी याद भी न आती होगी उनकी!

दिलीप : (**मन के भावों को छिपाने के प्रयास में बारजे की ओर को जाते हुए**) सच कहता हूँ, वह याद न रहती तो घुमक्कड़पने की बेड़ियाँ यूँ मेरे पैरों को न जकड़े रहतीं।

अप्पी : (**उसके पीछे जाते हुए सहानुभूति, दर्द और स्नेह के भाव से**) दिलीप !

दिलीप : (**संयत हो कर ज़रा हँसते हुए**) देखो, तुम्हारा किंगकाँग फिर मुँडेर पर ताक लगाये बैठा है।

अप्पी दिलीप के निकट जा कर उसकी आँखों में कुछ खोजने का प्रयास करती है। पर दिलीप बाहर की ओर देख रहा है। एक लम्बी साँस ले कर वह भी उधर देखने लगती है। उसका स्वर और उसकी भंगिमा एक अव्यक्त दर्द से अभिभूत हो उठती है।

अप्पी : किंगकाँग से मैंने कब का समझौता कर लिया है। (**क्षण भर चुप रहती है। फिर लम्बी साँस ले कर**) मैं उस फ़िल्म को कभी नहीं भूली। यह जीवन मुझे उसी फ़िल्म-सा भयानक लगता है। (**तनिक हँस कर**) वह लड़की तो मुक्त हो गयी थी, पर...

सीढ़ियों से प्राणनाथ की आवाज़ आती है। अप्पी आ कर चारपाई पर बैठ जाती है।

प्राणनाथ : अरे भई किधर हो !

भीतर प्रवेश करते हैं। हाथ में मिठाई का दोना है।

दिलीप : (**पलटता है**) आइए भाई साहब, क्या लाये हैं ?

प्राणनाथ : बाज़ार में जा रहा था तो देखा, लोटू लौकी की मिठाई बना रहा है। अप्पी का व्रत है, मैंने कहा लेता जाऊँ। आप भी मुँह मीठा कर लेंगे। लौकी की मिठाई लोटू

बहुत बढ़िया बनाता है ।

दिलीप : मुझे तो अभी अप्पी ने गाजर का हलवा खिलाया है ।

अप्पी : काली गाजर का हलवा क्या पसन्द आया होगा । खा लिया बस तकल्लुफ़-तकल्लुफ़ में । (**हँसती है—पति से**) उधर किचन में रख दीजिए, पार्वती प्लेट में ले आयेगी ।

प्राणनाथ : (**बारजे के दरवाज़े में जा कर पार्वती को आवाज़ देते हैं**) पार्वती ! यह मिठाई का दोना ले जा और दो प्लेटों में डाल कर ला ।

पार्वती भागी आती है। दोना ले जाती है ।
प्राणनाथ वापस जाते हैं ।

— : (**पत्नी से**) तुम भी खा लेना थोड़ी-सी । लौकी की मिठाई तो तुम्हें पसन्द थी कभी ।

अप्पी : मैंने अभी प्लेट भर हलवा खाया है, पर आप लाये हैं तो ज़रूर खाऊँगी ।

प्राणनाथ सीढ़ियों की ओर बढ़ते हैं ।

दिलीप : अरे भाई साहब, आप किधर चले । बैठिए न कुछ देर !

प्राणनाथ : नहीं भाई, दुकान में सुबह से आसामियाँ बैठी हैं । ढेरों काम पड़ा है और अभी बच्चों को बाज़ार भी ले जाना है ।

अप्पी : ज़रा जल्दी आइएगा । घुमा लायेंगे दिलीप जी को पास के गाँव तक ।

प्राणनाथ : कोशिश करूँगा । न आ सका तो तुम लोग हो आना । मैं चलूँगा तो बच्चे भी जाने को शोर मचायेंगे ।

अप्पी : उन्हें किशन सिंह सँभाल लेगा ।

प्राणनाथ : लेकिन रास्ते में नाला पड़ता है । बड़े-बड़े पत्थर हैं । बच्चे थक जायेंगे । तुम लोग हो आना । किशन सिंह को साथ ले लेना । मैं बच्चों को नदी तक घुमा लाऊँगा ।

चले जाते हैं ।

दिलीप : भाई साहब की सेहत पहले से तो अच्छी लगती है । स्मार्ट उतने नहीं रहे, लेकिन...

अप्पी : (**विरक्ति से**) सेहत कहाँ अच्छी है, फूल गये हैं ।

सहसा पार्वती किचन से चीखती है ।

पार्वती : अरे ..रे...रे, वह ले गया मिठाई का दोना ! जाने कब से ताक लगाये बैठा था ।

दिलीप भाग कर बारजे के दरवाज़े में जाता है ।

दिलीप : वही है, तुम्हारा किंगकाँग !...

अप्पी : (**उठ कर जल्दी से जाती है । क्षण भर देखती है, फिर कुछ अजीब भाव से कहती है**) नौकरों से लाख बार कहा है, पर ध्यान नहीं रखते । रोज़ ही कुछ-न-कुछ ले जाता है । पर मैंने कहा न, मैंने इससे कब का समझौता कर लिया है ।...अच्छा हुआ ले गया ! मुझे नहीं भाती अब लौकी की मिठाई...हाँ, उन्हें ज़रूर दुख होगा ।

दिलीप : (**जो दरवाज़े की चौखट में खड़े-खड़े किंगकाँग से ध्यान हटा कर दूर पहाड़ों को देखने लगता है । अप्पी का ध्यान उधर खींचते हुए**) यह सामने के पहाड़ों पर मेघ-बालों के साये कितने भले दिखायी देते है ! लगता है, जैसे सूनी अकेली जगह पा कर यहीं रम गये हैं और ये चितकबरी पहाड़ियाँ, अधबैठी, अधलेटी, अधसोई, कैसी भली लग रही हैं । मैं कहीं यहाँ रह जाऊँ तो जाने क्या कुछ न लिख डालूँ !

अप्पी : (**आशा और निराशा से**) रह गये तुम !

उसकी ओर कटाक्ष से देखती है । दिलीप का ध्यान उधर नहीं है । वह पहाड़ों की ख़ूबसूरती में गुम है ।

नीचे गली से ऊँटों के गले में बँधी घण्टियों का स्वर आता है ।

दिलीप : (**सहसा चौंक कर और वापस आते हुए**) कितनी शान्त है यह दोपहरी ! यह नीचे गली से गुज़रने वाले ऊँटों के गले में बँधी घण्टियों की आवाज़ कैसी प्यारी लग रही है ।

कबूतरों की गुटर-गूँ की आवाज़ आती है ।

— : यह बाज़ार से आने वाला मद्धिम-सा शोर और यह जँगली कबूतरों की गुटर-गूँ ।

बन्दरिया के बच्चों की कूँ-कूँ सुनायी देती है ।

— : लेकिन यह 'कूँ कूँ' की आवाज़ न जाने किस पक्षी की है!

अप्पी : (**जो वहीं अपने ध्यान में मग्न खड़ी स्वेटर बुन रही है । सहसा चौंक कर किंचित हँसती हुई खिड़की की तरफ़ जाती है**) पक्षी की नहीं, यह बन्दरिया के बच्चों की आवाज़ है ।

दिलीप : (**उसके पीछे-पीछे जाता हुआ**) कहाँ हैं ये बन्दरिया के बच्चे ?

अप्पी : (**खिड़की में जा कर इशारा करती है**) वो देखो, पेड़ से उस छत पर कूद आये हैं । कैसी कूट-कूट कर चंचलता भरी है इनमें ।—वह बन्दर कैसे मज़े से मुँडेर पर लेटा हुआ है और वह बन्दरिया किस स्नेह से उसे सहला रही है ।

दिलीप : (**कुछ क्षण उधर देखता रहता है. फिर पलटता है**) जी चाहता है, इसी तरह दोपहर की इस मीठी धूप में लेट जाऊँ और कोई मेरे शरीर को धीरे-धीरे सहलाये !

अप्पी : (**बदस्तूर सिलाइयाँ चलाती उसके पीछे-पीछे आती हुई**) तुम कब चाहते हो ! तुमने कभी नहीं चाहा !!

लम्बी साँस भरती है।

दिलीप : कितने चंचल और चपल हैं ये बन्दर और इनके बच्चे !

अप्पी : सब तरह की क़ैद से आज़ाद।

दिलीप : (**दार्शनिक भाव से**) ज़िन्दगी की कैद में तो ये भी बँधे हैं। हाँ, इन्हें उसका दुख नहीं, शायद उसका एहसास भी इन्हें नहीं।

अप्पी : यह एहसास का काँटा आदमी के ही भाग्य में क्यों बदा है दिलीप ! यह एहसास कुन्द क्यों नहीं हो जाता ! मर क्यों नहीं जाता !

दिलीप : (**लम्बी साँस को भीतर दबाते हुए**) मर भी जाता है ! आदमी का एहसास !

जा कर चारपाई में धँस जाता है।

अप्पी : (**उसके पीछे-पीछे जाते हुए उसके पास खड़े-खड़े**) मर कर भी जी उठता है। मैं घण्टों उस खिड़की में खड़ी इन बन्दरों को आज़ादी से कूदते-फाँदते, कुदक्कड़े मारते, कलाबाज़ियाँ लगाते, पेड़ की शाखाओं में लटकते-झूलते देखती रहती हूँ, यहाँ तक कि अपनी क़ैद का यह एहसास हज़ार गुना हो कर मेरी नस-नस में जाग उठता है। कभी ऐसा लगता है कि शरीर की समस्त शिराओं में कुछ सुलगने-सा लगा है और कभी ऐसे कि शरीर की हर धड़कती हुई नस मानो भीगी, फूली लकड़ी की तरह निर्जीव हो गयी है।

दिलीप : (**सहसा उठता है। अप्पी को दोनों कन्धों से पकड़ कर झँझोड़ते हुए**) अप्पी तुम ख़ुश नहीं हो।

अप्पी : (**बेबस**) मैं सन्तुष्ट हूँ।

दिलीप : (**और भी ज़ोर से झँझोड़ते हुए**) तुम सन्तुष्ट भी नहीं हो !

अप्पी : दुनिया में कौन ख़ुश है, कौन सन्तुष्ट है ?...तुम खुश हो ?

दिलीप : मैं ! (**क्षणांश को उसकी आँखों में देखता है । कुछ कहना चाहता है, उसके चेहरे पर एक बादल-सा आता है, होंट फड़फड़ाते हैं**) मैं...(**लेकिन फिर हँसता है**) मैं कवि हूँ...(**कन्धों पर ज़ोर दे कर उसे कुर्सी में बैठा देता है**) और तुम...तुम कवि से दार्शनिक बन गयी हो ।

ख़ुद भी साथ की कुर्सी पर बैठ जाता है ।

अप्पी : ज़िन्दगी में आदमी दार्शनिक बन जाता है या पत्थर ।

दिलीप : दोनों एक ही चीज़ के दो नाम हैं ।

अप्पी : शायद तुम ठीक कहते हो । पत्थर शायद सबसे बड़ा दार्शनिक है ।

दिलीप : लेकिन अप्पी, अच्छा था तुम कवि ही रहतीं—अपनी सारी नाकामियों और मजबूरियों के अँधेरों में भी कवि के हृदय में—हृदय के किसी अज्ञात कोने में—आशा की नन्हीं-सी लौ टिमटिमाती रहती है । तुम सोच नहीं सकतीं, कल साँझ मैं कितना हताश था । रात मैंने किस दिमाग़ी परेशानी में बितायी । अपने कोलाहल-भरे, लेकिन नितान्त खोखले वातावरण की उस दम घोंटने वाली क़ैद से मैं किस तरह उसी लौ के सहारे यहाँ आ गया । इस छोटे-से सुन्दर कस्बे को देख कर, तुम से मिल कर, निम्मो और दीशी को पा कर, तुम्हारे इस नन्हें-से स्वर्ग के दर्शन कर, सच, मैं निहाल हो गया हूँ । जैसे अपनी खोई हुई आशा और उल्लास मुझे फिर वापस मिल गये हैं । लेकिन इस स्वर्ग को बसाने वाली तुम—तुम दुखी और उदास हो !

अप्पी : स्वर्ग...!

अतीव व्यथा से हँसती है ।

दिलीप : (**अप्पी की उस विषैली, दर्द-भरी हँसी की ओर ध्यान दिये बिना, अपने भावों की रौ में**) और मैं सोचता हूँ, मैं यहाँ

रह जाऊँ तो न जाने मेरे कलम से कैसी सुन्दर रचनाएँ अनायास काग़ज़ पर उतर आयें (**उठ कर क्षण भर चुपचाप घूमता है, फिर उसके पास आ कर खड़े-खड़े**) जिस दिन अप्पी, इस दुनिया में ख़ूबसूरती पैदा हुई थी, शायद उसी दिन बदसूरती ने भी जन्म लिया था। दार्शनिक जब सुन्दरता को देखता है तो कुरूपता को नहीं भूलता, लेकिन कवि जब अपने इर्द-गिर्द कुरूपता को देखता है तो सुन्दरता को याद रखता है। बीती हुई ख़ूबसूरती को अतीत की अँधेरी गुफाओं से निकाल कर अपने वर्तमान की कुरूपता पर छा देता है। और यहीं शायद वह दार्शनिक की अपेक्षा लाभ में रहता है।

अप्पी : (**लम्बी साँस भरते हुए**) शायद तुम सच कहते हो। शायद यह कविता ही की संजीवनी ही थी, जिसने अब तक मुझे ज़िन्दा रखा। शायद मैं अपने अतीत के सुख में वर्तमान दुख को, अतीत की सुन्दरता में वर्तमान की कुरूपता को भूले रही हूँ।

दिलीप : (**हर्षोन्माद से**) तुम्हारी कसम, तुम अब भी कवि हो अप्पी, हालाँकि पिछले आठ वर्षों से तुमने एक भी पंक्ति नहीं लिखी...(**सन्देह-भरी नज़र उस पर डालता है**) या चुप-चुप लिखती रही हो और मुझसे छिपा रही हो।

अप्पी : नहीं, लिखती तो नहीं रही, लेकिन तुम्हारे प्रोत्साहन से शायद मैं फिर लिखने लगूँ। तुम कुछ दिन रहो तो जाने मैं सचमुच फिर कुछ गुनगुना उठूँ।

दिलीप : (**मुड़ता है और फिर खिड़की में जा खड़ा होता है**) मैं रहूँगा। मुझे बर्फ़ गिरने से कोई दिलचस्पी नहीं।

अप्पी : (**उठ कर उसके पास जाती हुई**) लेकिन तुम्हारे मित्र!

दिलीप : मुझे उनकी कोई परवाह नहीं। सिवा खाने-पीने और

मौज उड़ाने के उन्हें और आता क्या है !

अप्पी : वाणी !

दिलीप : कुन्तल ने बतायी होगी तुम्हें उसकी बात ! (**हँसता है**) लेकिन वो बेदिमाग़ तितली है। दूर से सुन्दर-सुहानी लगती है। पास आने पर मालूम होता है कि उस चमक के नीचे कितना अँधेरा है। उसकी नज़र का घेरा बहुत ही छोटा है। मैं बरबस उससे अपने आप को छुड़ा कर भाग आया हूँ।

अप्पी : (**उसके और निकट हो कर आँखों में अरमान-भरी निगाहों से देखते हुए**) तुम कभी आओगे, शायद मैं इसी आशा पर ज़िन्दा थी।

निमिष भर को दोनों एक-दूसरे की आँखों में देखते हैं। दिलीप की आँखों में क्षण भर के लिए एक चमक-सी कौंध जाती है। लगता है, जैसे वह एक ही बार में अप्पी को अपने आलिंगन में भर लेगा। लेकिन दूसरे क्षण अपूर्व संयम से—जिसके चिह्न उसके चेहरे पर अंकित हो उठते हैं—वह अपने आपको वश में कर लेता है और उसकी आँखों की वह चमक जैसे अचानक पैदा हुई थी, उसी तरह सहसा बिला जाती है। उसके होंटो पर एक उदास मुस्कान खेल जाती है।

दिलीप : शायद मैं भी। (**हँसता है**) सच ! कितनी बार मैंने यहाँ आने के सपने नहीं देखे, कितनी बार कल्पना-ही-कल्पना में तुम्हें पत्र नहीं लिखे, लेकिन जब भी मैंने उन कल्पनाओं और सपनों को साकार करने की सोची, न जाने कौन-सी अदेखी-अजानी ज़ंजीरों ने मेरे हाथ-पैर बाँध दिये।... (**क्षण भर चुपचाप घूमता है**) तुम भी तो दीशी के जन्म

के बाद फिर कभी दिल्ली नहीं गयीं !

अप्पी : वापस आ कर मन बेतरह घुटने लगता था । ज़िन्दगी तो यहीं काटनी है, सो मैंने दिल्ली जाना छोड़ दिया ।

दिलीप : जब तक मैं आगरे था, तुम दिल्ली जाती रहीं । मैं दिल्ली आ गया तो फिर तुम नहीं आयीं ! (**हँसता है**) तुम्हारे ममी-पापा शिकायत करते थे कि अप्पी अपने बाल-बच्चों में हमको बिल्कुल भूल गयी । बड़ी निष्ठुर हो गयी है ।

अप्पी : दो वर्ष पहले आये थे ममी-पापा । (**दर्द से हँसती है**) बड़े ख़ुश थे कि मैं घर में सुखी-सन्तुष्ट हूँ !

दिलीप : उन्हें यकीन था, तुम चला लोगी । औरतें मर्दों की अपेक्षा ज़्यादा एडैप्टेबल होती हैं । नये वातावरण में अपने को ढाल लेती हैं । ये कुछ मुझी-से कमज़ोर होते हैं, जो नहीं ढाल पाते और भटकते रहते हैं । जो नहीं हुआ, जो नहीं हो सकता, उसी के सपने देखते रहते हैं । पर इसीलिए तो लोग कवियों को पागल कहते हैं ।

अप्पी : (**सहसा अनुरोध-भरे स्वर में**) दिलीप, तुम शादी क्यों नहीं कर लेते !

दिलीप : (**हैरत से उसकी ओर देखता है ।**) शादी !

अप्पी : तुम कर लो तो मैं हर बरस दिल्ली आऊँ !

दिलीप : यहाँ कुछ दिन रह कर शान्ति बटोर लूँ तो शायद कर ही लूँ ।

हँसता है ।

अप्पी : (**सहसा उसके पास आकर**) वाणी कैसी है ?

दिलीप : बता तो चुका हुँ ।

अप्पी : मुझे नहीं मिलाओगे उससे ।

दिलीप : (**हँसता है**) मैंने कभी अगर शादी का फ़ैसला किया तो बिना लड़की तुमसे पास कराये नहीं करूँगा शादी ।

सच ! लेकिन अभी तो मैं कुछ दिन यहाँ रहूँगा । अखनूर के इस सुरम्य सन्नाटे में अपनी भटकन को डुबो दूँगा और अपनी बिखरी हुई शक्तियों को इकट्ठा कर, कुछ ऐसा लिखूँगा—कुछ ऐसा—जो रहती दुनिया तक क़ायम रहे ।

अप्पी : (**हर्षातिरेक से**) तुम रहो तो इससे बड़ी ख़ुशी हमें क्या होगी ! मैंने तुम्हारे ठहरने का प्रबन्ध बारहदरी में भी किया है और नीचे बैठक में भी । बारहदरी तुम्हें कैसी लगी ?

दिलीप : बारहदरी...कैसी लगी...(**हँसता है**) मुझे लगता है, जैसे मुझे इसी बारहदरी की ज़रूरत थी ।...वहीं बैठा-बैठा मैं सूरज के उदय-अस्त के दर्शन कर सकता हूँ । हिमालय के बर्फ़ानी शिखरों से किरणों की गलबहियों का आनन्द ले सकता हूँ । नीचे नदी को किसी निरन्तर खोज में संलग्न देख सकता हूँ । बैठा-बैठा थक जाऊँ तो लेट सकता हूँ । लेटा-लेटा ऊब जाऊँ तो घूम सकता हूँ ।

अप्पी : मैं डरती थी, कहीं वहाँ तुम्हें ठण्ड न लगे । रात को सर्दी हो जाती है बारहदरी में । दूसरे-तीसरे बूँदियाँ पड़ने लगी हैं । बरखा शुरू हो गयी है ।

दिलीप : मुझे बरखा पसन्द है । बाहर बादल रिमझिमा रहे हों और मैं कमरे में चुपचाप बैठा उसका संगीत सुनूँ, या फिर बाहर तूफ़ान हरहरा रहा हो, मेरे कमरे की दीवारों से टक्करें मार रहा हो और मैं अपने कमरे में खिड़कियाँ और दरवाज़े बन्द किये, आराम से बैठा कविता करूँ, ऊँघूँ या सपने देखूँ, इससे बढ़ कर मुझे और कुछ पसन्द नहीं ।

अप्पी : मुझे सर्दी का डर था, इसीलिए मैंने बैठक भी तैयार करा दी । देखोगे ?

दिलीप : नहीं...नहीं...नहीं...मुझे बैठक-बैठक नहीं चाहिए । मैं

बारहदरी में ही ठीक हूँ।

अप्पी : **(बड़े स्नेह से)** मैं दो पट्टू रख दूँगी। तुम्हें सर्दी न लगे।

दिलीप : **(हँसता हुआ उसके कन्धे पर हाथ मारता है)** तुम चिन्ता न करो, मेरी बेतकल्लुफ़ी में अभी तक किसी तरह की कमी नहीं आयी।

पिछली सीढ़ियों से बेगाँ की आवाज़ आती है।

बेगाँ : जगदीश की अम्मा...जगदीश की अम्मा !

अप्पी : शायद बेगाँ है...(**नौकरों को आवाज़ देती है**) किशन सिंह...पार्वती...

कुछ क्षण बाद किशन सिंह हाथ में दो गुलदस्ते लिये बारजे पर आता है।

किशन सिंह : बीबी जी, बेगाँ ये गुलदस्ते लायी है।

अप्पी अलमारी से कुछ पैसे निकालती है और बारजे में खड़े किशनसिंह के हाथ पर रखती है। दिलीप पलँग पर जा कर पसर जाता है।

अप्पी : ये दो आने उसे दे दो कि बच्चों के लिए रेवड़ियाँ ले जाय। इन गुलदस्तों में से एक नीचे बैठक में और दूसरा ऊपर बारहदरी में सजा दो !

किशन सिंह जाने लगता है।

— : तुमने खाना खा लिया ?

किशन सिंह : जी बीबी जी।

अप्पी : तो जाओ, जा कर यह काम कर दो। फिर चलो दिलीप जी को बेगाँ के बाग़ तक घुमा लायें।

किशन सिंह : बहुत अच्छा बीबी जी।

जाने लगता है।

अप्पी : सुनो !

किशन सिंह रुक जाता है।

अप्पी : बेगाँ से कहना कि दो गुलदस्ते रोज़ दे जाया करे। दिलीप जी अभी कुछ दिन रहेंगे यहाँ।

किशन सिंह चला जाता है।

— : दिलीप जाओ, कपड़े बदल आओ, ज़रा घुमा लायें तुम्हें। तुम कवि हो। दुनिया के कोलाहल से दूर, प्रकृति की गोद में बसे यहाँ के छोटे-से गाँव और उसके बाग़-बगीचे और झोपड़े तुम्हें पसन्द आयेंगे।

दिलीप : (**उचक कर उठता है**) लो, अभी दो मिनट में तैयार हो जाता हूँ।

बारजे में भाग जाता है।

किशन सिंह बारजे से आता है।

किशन सिंह : बीबी जी, बेगाँ दो आने ले कर राज़ी नहीं, वह अलिये के लिए कोई कुर्ता या कमीज़ माँगती है। कहती है नंगा फिरता है।

अप्पी : उससे कहो कि इस वक्त नहीं, दो-एक दिन में देख कर ज़रूर भेज दूँगी। (**किशन सिंह जाने लगता है**) और सुनो! नीचे डेवढ़ी में हमारा इन्तज़ार करना। अभी तैयार हो कर हम आते हैं। तुम साथ चलना।

किशन सिंह चला जाता है। अप्पी आ कर कुर्सी पर बैठ जाती है और लम्बी साँस भर कर पैर फैला लेती है। सहसा बाहर की सीढ़ियों से दोशी गेंद-बल्ला लिये और निम्मो गुड़िया के गहने और पटोलों का डिब्बा सम्हाले, एक-दूसरे के पीछे भागते आते हैं और अपनी माँ की गोद में अपना-अपना सामान रख कर, फिर भागते हुए वापस चल देते हैं।

— : (**पैर सिकोड़ते हुए**) अरे...सुनो...कहाँ भागे जा रहे हो?

दीशी : लाला जी नीचे लोटू की दुकान पर हैं। (**खुशी से उछलता हुआ**) अभी हम मिठाई खायेंगे, फिर लाला जी के साथ दरिया पर जायेंगे...फिर आ कर गेंद-बल्ला खेलेंगे और निम्मो को ऐसा पदायेंगे ...ऐसा पदायेंगे...

निम्मो : हम तुम्हें पदायेंगे...खूब पदायेंगे।

अप्पी : निम्मो सुन।

निम्मो आती है।

अप्पी : (**उसे गोद में ले कर**) तुम हमारे साथ नहीं चलोगी, बेगाँ का बाग़ देखने। तुम्हारे मामा जी को घुमा लायेंगे।

दीशी : (**आगे बढ़ कर**) हमने देख रखा है अम्मा। लाला जी ने कहा है कि तुम मामा जी के साथ जाओगी और हम उनके साथ पहले मिठाई खायेंगे, फिर दरिया पर जायेंगे।

निम्मो : हम इतनी दूर जाने से थक जायेंगे अम्मा। रास्ते में नाला पड़ता है—ये बड़े-बड़े पत्थर ! हम मिठाई खायेंगे, दरिया पर जायेंगे और आ कर गेंद-बल्ला खेलेंगे।

माँ की गोद से उछल कर उठती है और सीढ़ियों की तरफ़ भागती है।

दीशी उसके पीछे भागता है।

अप्पी : अरे सुनो...सुनो...

दोनों रुकते हैं।

— : ज़रा अपने पिता जी को भेजना।

दोनों स्वीकार में सिर हिलाते हुए भाग जाते हैं। अप्पी लम्बी साँस भरती है और फिर टाँगें फैला कर कुर्सी पर बैठ जाती है।

कुछ क्षण बाद प्राणनाथ सीढ़ियों से आते हैं।

प्राणनाथ : तुमने बुलाया अप्पी !

अप्पी : मैं सोचती थी, आप चलते तो ज़रा घुमा लाते दिलीप जी को !

प्राणनाथ : देखो, मेरे साथ कोई तकल्लुफ़ की ज़रूरत है क्या ? मैं जाऊँगा तो बच्चे भी जायेंगे। चंचल हैं। बात नहीं करने देंगे। दोनों का ध्यान रखना पड़ेगा। थक जायेंगे और आते वक्त उन्हें उठाना पड़ेगा। नाले का पाट बहुत चौड़ा है और बेशुमार पत्थर। छोटे तो हैं नहीं कि गोद में ले कर नाला पार कर जायँ। निम्मो को तो मैं उठा लूँगा, लेकिन दीशी...

अप्पी : किशन सिंह को साथ ले जा रहे हैं।

प्राणनाथ : लेकिन क्या ज़रूरत है। तुम जाओ घुमा लाओ उसे। मैं बच्चों को बहलाये रखूँगा।

अप्पी : आप ले जाते दिलीप को ! मैं बच्चों को सम्हाल लेती।

प्राणनाथ : रो दोगी। पीट बैठोगी।...तुम जाओ।

अप्पी : बरसों हो गये मुझे घर से निकले। मैं तो रास्ते तक भूल गयी हूँ।

प्राणनाथ : किशन सिंह जानता है, उसे ले जाओ।

अप्पी : उसे तो ले जा रही हूँ।

प्राणनाथ : बस ठीक है।

जाने लगते हैं।

अप्पी : सुनिए !

— : (**उठ कर उनके निकट जाती है**) दिलीप जी शायद कुछ दिन रहें। (**प्राणनाथ के चेहरे पर हलका-सा बादल आता है**) एक लड़की उनकी नज़र में है। मैं चाहती हूँ घर बसायें, यूँ लँडूरे न घूमें।

प्राणनाथ : (**वह बादल हट जाता है**) यह तो बहुत अच्छी बात है। कहाँ इरादा है ?

अप्पी : ज़्यादा तो नहीं पूछा, पर ऐसा लगा है। अब पूछूंगी और उनका मन बनाऊँगी ताकि मौसा जी की भी चिन्ता मिटे और दिलीप भी जम कर बैठें।...

प्राणनाथ : ज़रूर उनका मन बनाओ। इसी बहाने दिल्ली-आगरा घूम आयेंगे।

अप्पी : आप ज़रा तरकारियों का प्रबन्ध कर दीजिएगा; सूजी और कुछ बासमती चावल भेज दीजिएगा। दोनों जून खाने पर कुछ मीठा तो होना चाहिए।

प्राणनाथ : तुम फ़िक्र न करो। मैं सब कुछ पहुँचा दूँगा। वक्त से तुम लोग जाओ और समय से वापस आओ।

अप्पी : समय से आ जायेंगे।

प्राणनाथ : दिलीप कहाँ है ?

अप्पी : ऊपर बारहदरी में हैं। कपड़े बदलने गये हैं।

प्राणनाथ : अच्छा तो मैं चला।

उसके कन्धे को थपथपाते चले जाते हैं। अप्पी आ कर फिर कुर्सी में धँस जाती है। लम्बी साँस लेती है और चुपचाप शून्य में देखने लगती है। तभी दिलीप सूट-बूट पहने आता है।

दिलीप : तुम अभी बैठी हो !

अप्पी : (**उठती है। स्वेटर और ऊन का गोला अलमारी में रखती है**) मुझे क्या करना है, बस ज़रा चादर ओढ़ आऊँ।

दिलीप : चादर !

अप्पी : यह कोई दिल्ली-आगरा तो है नहीं। कस्बा है पुराने वक्तों का। सिर ढक कर चलना पड़ता है। आँखें नीची कर के।

आँखें नीची कर के—यह बताती हुई कटाक्ष से दिलीप की ओर देखती है। मुस्कराती है, दिलीप भी मुस्कराता है। अप्पी के मुख पर

लाली दौड़ जाती है। वह अदा से अन्दर कमरे में चली जाती है। दिलीप विमोहित उधर देखता है।

(पर्दा गिरता है)

तीसरा अंक

●

अप्पी का वही कमरा ।

बाहर सूरज शायद अभी-अभी अस्त हुआ है और यद्यपि भीतर कमरे में काफ़ी अँधेरा छा रहा है, लेकिन बारजे पर रोशनी है और दूर वैष्णव देवी की चोटियाँ बहुत धुँधली-सी दिखायी दे रही हैं । बायीं ओर खिड़की में से भी हल्का प्रकाश आ रहा है ।

कमरे में सब कुछ लगभग वही है, जो दूसरे अंक में । केवल बारजे को जाने वाले दरवाज़े के बराबर, अटेरन वाली खूँटी पर, एक लाल-टेन लटक रही है, जिसकी चिमनी, बत्ती ठीक से कटी न होने के कारण, काली हो रही है । पर्दा उठने के कुछ क्षण बाद अप्पी और दिलीप बारजे से आते हैं । अप्पी बड़ी बेज़ारी से चादर को उतारते हुए प्रवेश करती है ।

अप्पी : (चादर को कुर्सी पर फेंकते हुए और स्वयं पलँग में धँसते हुए) कितना आनन्द आया इस सैर में !

सुख की साँस लेती है ।

दिलीप : (कुर्सी से चादर उठा कर तिपाई पर रखता है और स्वयं

कुर्सी में धँस जाता है) जाने कितने युगों बाद इतनी सुन्दर शाम और ऐसा सुन्दर साथ मिला है ।

लम्बी साँस लेता है ।

अप्पी : (**लाल होते हुए**) यही मैं कहने वाली थी ।

दिलीप : मैं कहता हूँ अप्पी, ये देहाती कितने सरल और सत्कार-शील हैं । मुझे तो ऐसा लगा, जैसे मैं किसी आदिम बस्ती में पहुँच गया हूँ, (**कुर्सी पर पीछे को लेट जाता है**) जहाँ इन्सान ने शैतान होना नहीं सीखा और जहाँ ज़िन्दगी की पवित्र नदी छल-कपट के कलुष से रहित, ठहरी और निथरी और अपने किनारों में मगन, बह रही है ।

अप्पी : (**दोनों हाथ पीछे टिका कर अनजाने ही पैर हिलाती हुई**) आस-पास ऐसे दसियों गाँव हैं । मैं शुरू-शुरू में जाया करती थी, फिर तो जैसे इच्छा ही नहीं रही । कुछ अजीब-सी शिथिलता तन-मन पर छायी रहती है ।

दिलीप : (**उठ कर उस सुन्दर वातावरण से उत्पन्न होने वाली रूमानी भावना से वशीभूत, अपनी आकुलता में**) तुम्हारे आस-पास कितनी सुन्दरता है !

खिड़की में जा खड़ा होता है ।

अप्पी : (**पैर हिलाना बन्द कर देती है । उदास भाव से**) लेकिन पिंजरे के भीतर वही कुल्हिया का दाना-पानी !

पैर उठा कर लेट जाती है ।

दिलीप : (**मुड़ कर जोश से**) फिर वही निराशा ! अप्पी तुम दार्शनिक बन गयी हो । सुन्दरता को भूल गयी हो । मैं यहीं रहूँगा, तुम्हें फिर से इस अमर सौन्दर्य का आनन्द लेना सिखाऊँगा । कितनी ख़ूबसूरती है तुम्हारे चारों ओर—अल्हड़, अछूती, अमर ! अभी कुछ क्षण पहले मैंने

जो दृश्य देखा, मेरे मन के पर्दे पर हमेशा-हमेशा के लिए नक्श रहेगा।

अप्पी : (**चारपाई पर लेटे-लेटे उसकी ओर करवट ले कर**) कौन-सा दृश्य ?

दिलीप : तुमने नहीं देखा ? या शायद बार-बार देखने के कारण तुम्हारे निकट उसमें कोई आकर्षण नहीं रहा।

अप्पी : (**फिर उठ कर बैठती हुई**) किस दृश्य की बात करते हो ?

दिलीप : (**रंगमंच के दायें कोने में जैसे दर्शकों के ऊपर अब भी उसी दृश्य को देख रहा है**) शाम के सायों और धुँधलकों में लिपटी हुई नीलिमा वैष्णव देवी के पहाड़ पर नीचे से ऊपर को उठ रही थी। धीरे-धीरे सारे पहाड़ पर नीली-नीली धुन्ध का परिधान छा गया। सिर्फ़ चोटी पर नीला-सा प्रकाश रह गया—शायद वह डूबते हुए सूरज की अन्तिम मुस्कान का बिम्ब था।

अप्पी : (**उठ कर उसके पास जा कर उसके कन्धे को छूती हुई**) तुम सुबह नदी पर जाओ तो उन नीलाहटों को धीरे-धीरे नीचे उतरते देखोगे और पहाड़ों के शिखर पर तुम्हें उदित होते सूरज की पहली मुस्कान का बिम्ब दिखायी देगा। लेकिन तुम सच कहते हो (**उदास भाव से मुड़ते और लम्बी साँस भरते हुए**) मैं इन मुस्कानों की आदी हो गयी हूँ और मेरे लिए उनमें कोई नयापन नहीं रहा।

जा कर फिर पलँग पर धँस जाती है।

दिलीप : (**चौंक कर उसकी तरफ़ जाते हुए**) कोई नयापन नहीं रहा ! यह तुम कहती हो और फिर दार्शनिक के नाम से तुम्हें चिढ़ होती है। सच कहता हूँ, मैं उस दृश्य को कयामत तक देखता रहूँ तो मुझे उसमें नित नया आनन्द

मिलेगा।...उस वक्त जब मैं उस नाले के बड़े-बड़े काले, भूरे, सफ़ेद पत्थरों पर खड़ा था और नीले धुँधलकों ने पास के पहाड़ों को अपने दामन में छिपा लिया था और दूर हिमालय की चोटियों पर डूबते सूरज की केसरी चमक रेखा-गणित की अजीबोग़रीब शक्लें बनाती हुई, चारों ओर से बढ़े आने वाले धुंधलकों में खो गयी थी, मुझे ऐसा लगा था, जैसे मैं इस भौतिक जगत से ऊपर—बहुत ऊपर उठ गया हूँ। मेरे मन का सारा कलुष धुल गया है! दुख-दर्द, मोह-शोक, ईर्ष्या-द्वेष मुझे अब नहीं छू सकते और उस वक्त—उस वक्त, सच कहता हूँ अप्पी मुझे उस अनादि, अनन्त, अद्वैत सत्ता के अस्तित्व का एहसास हुआ था और मेरे मन में एक अनूठा खण्ड-काव्य अँखुआ उठा था। इस असीम का तो एक कोना भी वर्षों में नहीं जाना जा सकता, यह कहीं पुराना हो सकता है!

इस दौरान खिड़की और बारजे का प्रकाश और भी मन्द हो गया है।

अप्पी : (**उठते हुए, व्यथा से हँस कर**) शायद इस सँकरे पुरानेपन में नये और निस्सीम की पहचान भी मुझे नहीं रही। (**चारों ओर देख कर**) कितना अँधेरा हो रहा है। पार्वती कमबख्त ने अभी तक लालटेन भी नहीं जलायी। (**बारजे पर जा कर**) पार्वती...पार्वती! (**फिर जैसे मुड़ कर अपने आप से**) वे भी न जाने अभी तक क्यों नहीं आये! कहते थे, समय से आ जाना! और खुद शायद बच्चों को लिये घूम रहे होंगे अभी तक। (**हँसती है**) मैं तो तुम्हारे इस काव्य-कलाप में लालटेन तक जलाना भूल गयी। (**हँसती हुई खूंटी से लैम्प उतार कर, अलमारी के ऊपर से दियासलाई उठा, उसे जलाती है**) चिमनी तक

साफ़ नहीं की कमबख़्त ने और बत्ती, लगता है, जैसे वर्षों से नहीं कटी। (**फिर बारजे पर जा कर और भी ज़ोर से पार्वती को पुकारती है**) पार्वती...पार्वती...

पार्वती : (**भागती हुई बारजे से आती है**) जी बहू जी ! (**अन्दर आ कर**) जी...

अप्पी : यह लालटेन साफ़ नहीं की।

पार्वती : किशन सिंह के छोहरे से पूछ लीजिए बहू जी....मैंने तो बड़ी अच्छी तरह साफ़ करके जलायी थी, शायद बुझ गयी।

अप्पी : बच्चे नहीं आये ?

पार्वती : आये थे ! लाला जी उन्हें अड्डे के मैदान में गेंद-बल्ला खिलाने ले गये।

अप्पी : (**लालटेन का शीशा निकाल कर**) इसकी बत्ती नहीं काटी तुमने ?

पार्वती : मैंने कोशिश की थी, पर यह मुई मुझसे कटती ही नहीं ठीक से। कभी एक तरफ़ से ऊँची हो जाती है, कभी दूसरी तरफ़ से ! किशन सिंह जलाया करता है। वह आपके साथ चला गया था।

अप्पी : वहाँ से कैंची उठा।

अलमारी की ओर संकेत करती है।

पार्वती अलमारी के ऊपर से टटोल कर कैंची उठाती है।

— : (**उससे कैंची लेते हुए**) चाय का पानी रख, और दो प्याले गर्म-गर्म चाय बना।

दिलीप : चाय तो वहाँ पी आये हैं।

अप्पी : उस देहाती चाय में तुम्हें क्या मज़ा आया होगा ? वह दूध था, चाय थोड़ी थी।

पार्वती : पानी उबल रहा है बहू जी, दो मिनट में बना लाती हूँ।

अप्पी : (**बत्ती को काट कर, चिमनी साफ़ करते हुए, दिलीप से जो इस बीच जा कर कुर्सी में धँस गया है**) तुम तो दिलीप, बिजली की चकाचौंध के आदी हो। यहाँ तो लालटेन की रोशनी है भाई, जो इस अँधेरे को और भी बढ़ा देती है।

दिलीप : मन का अँधेरा तो अप्पी, बिजली के हण्डे भी नहीं मिटा सकते। लेकिन मैं इस अँधेरे से अपरिचित नहीं हूँ। मेरा इससे पुराना नाता है। कभी-कभी मुझे लगता है, जैसे इस अँधेरे को मैं कभी न बेध सकूँगा। यह एक दिन मुझे समूचा निगल जायगा, लेकिन फिर कितनी ही मीठी यादें अपनी जलती हुई मशालें लिये आ जाती हैं और अँधेरे की यह चादर आईने-सी चमक उठती है और मैं उसमें सपने देखने लगता हूँ।

अप्पी : (**लालटेन को जला कर खूँटी पर टाँगते हुए**) तुम अब भी सपने देखते हो !

दिलीप : मैं जिस दिन सपने न देखूँगा, ख़त्म हो जाऊँगा।

अप्पी : राम राम, कैसी बातें करते हो !

उसके मुँह पर हाथ रखना चाहती है, पर हाथ तेल से सने हैं। इसलिए मुड़ कर पार्वती को पुकारती है।

— : पार्वती ज़रा साबुन और पानी लाना।

दिलीप : अभी कल मुझे लगा था, जैसे अँधेरा अपने दल-बल के साथ मुझे निगल जाने को बढ़ा आ रहा है, जैसे यह मेरे सारे सपनों को निगल जायगा, लेकिन मैं भाग कर यहाँ आ गया—तुम्हारे पास—और अब...अब मुझे लगता है, जैसे इस लालटेन की रोशनी में मेरें मन का अँधेरे-से-अँधेरा

कोना जगमगा उठा है।

अप्पी कनखियों से उसकी ओर देखती है। पार्वती एक हाथ में साबुनदानी और दूसरे में पानी का लोटा लिये, बाँह पर छोटा-सा तौलिया रखे आती है। अप्पी नाली पर हाथ धोती है, पर उसका ध्यान दिलीप की ओर है।

दिलीप : तुम इस रोशनी को तुच्छ समझती हो अप्पी ! तुमने इसे नहीं पहचाना।

अप्पी हाथ धो कर तौलिया ले लेती है। पार्वती लोटा और साबुन ले कर चली जाती है और नीचे के सम्वाद में चुपचाप चाय की ट्रे ला कर तिपाई पर रखती है।

अप्पी : **(तौलिये से हाथ पोंछती हुई)** पहचाना ! मैं ख़ुद कई बार अथाह अँधेरों में भटकती रहती हूँ। कभी-कभी मुझे लगता है, जैसे यह अँधेरा मेरी सारी इच्छाओं-आकांक्षाओं, सपनों-स्मृतियों का दम घोंट देगा और मैं उस लाश की तरह पड़ी रह जाऊँगी, जिसका सारा लोहू कभ्भी तृप्त न होने वाली किसी जोंक ने चूस लिया हो। **(लम्बी साँस भरती है)** लेकिन तुमने सच कहा। आदमी अँधेरे का भी आदी हो जाता है और जहाँ पहले अँधेरा उसका ख़ून चूसता था, वहाँ वह उसी से रक्त प्राप्त करता है।

चाय का प्याला बना कर उसे देती है।

दिलीप : **(उससे प्याला लेता हुआ)** तुम्हारी कसम अप्पी, तुम शानदार कवि हो। जाने कौन-से अनोखे, अव्यक्त भाव तुम्हारे अन्तर की गहराइयों में छिपे, अभिव्यक्ति के लिए कसमसा रहे हैं।

अप्पी : **(एक प्याला अपने लिए बनाती है और कुर्सी पर बैठ**

जाती है) मैं खुद महसूस करती हूँ, जैसे मैं एकदम गा उठूँगी। (**चाय का घूँट भरती है**) भावों का एक तूफ़ान-सा मेरे मन में उमड़ उठा है। न जाने यह तुम्हारे ही आने की बाट देख रहा था। तुम रहो तो जाने यह शब्दों और पंक्तियों का रूप धर ले।

दिलीप : मैं रहूँगा और शायद मैं कुछ ऐसा लिखूँगा, जो मैंने आज तक नहीं लिखा। नाले के उस पथरीले विस्तार में खड़े-खड़े मेरे मन में खण्ड-काव्य का जो आधारभूत विचार आया था, उसे मैं यहाँ बैठ कर मूर्त रूप दूँगा और कहीं यदि मैं लिख ले गया...कहीं मन के मुताबिक लिख ले गया...तो...तो...

अप्पी : थीम क्या है ?

दिलीप : मैं बता नहीं सकता...कुछ अस्पष्ट-सी है...यह जो अनादि, अनन्त सत्ता लाखों-करोड़ों मनुष्यों के भाग्य को पल भर में इधर-से-उधर कर देने की शक्ति रखती है, उसके आगे इस छोटे-से मानव की क्या हस्ती है !... कहाँ वह विराट और कहाँ यह वामन...वह तेज और ज्योति का अन्तहीन स्रोत और यह आदिम अँधेरों में भटकने वाला...वह अमर-अनश्वर, यह क्षण-भंगुर और नाशवान...लेकिन अपनी तमाम कमज़ोरियों और मजबूरियों के बावजूद यह बौना कैसे उस परम शक्तिशाली के आसन पर जा बैठना चाहता है—अपनी इस नगण्य हस्ती को उस परम सत्ता के स्तर पर ले जा कर, इस संसार से ऊपर उठ जाना चाहता है...कितनी भयावनी हैं इसकी सीमाएँ और कितनी व्यापक और दुर्दम है इसकी आकांक्षा...अभी तो कुछ भी पूरी तरह साफ़ नहीं...बस, मुझे थोड़ी-सी शान्ति चाहिए, एकाग्रता

चाहिए, हमदर्दी और प्रोत्साहन चाहिए...मेरे ये अस्पष्ट भाव अपने आप स्पष्ट हो कर खण्ड-काव्य में व्यक्त हो जायेंगे...मुझे उम्मीद है कि यहाँ अखनूर में तुम्हारे पास...

अप्पी : लेकिन तुम्हारे मित्र और वाणी ! वह जो प्रतीक्षा कर रही है जम्मू में तुम्हारी !

दिलीप : मेरे मित्र अब मुझे नहीं बाँध सकते । उन्हीं से तो जान छुड़ा कर मैं भाग आया हूँ **(चाय के एक दो घूंट भरता है)** और वाणी ! मैं उसे क्या कहूँ ! वह मुझे यूँ ही उड़ाये फिरती है । कभी मैं अपने आप को किसी ऐसे हल्के-फुल्के रीते बादल-सा महसूस करता हूँ, जो नीले, गहरे आसमान में हवा के झकोरों से बेकार, बेमतलब इधर-उधर उड़ता फिरता है और कभी मुझे लगता है, जैसे मैं भावुकता से भरे, लेकिन प्रभाव से शून्य ऐसे शब्दों-जैसा हूँ, जो किसी भावुक, लेकिन थोथे भाषणकर्ता के होंठों से निकल कर निरन्तर हवा में उड़ते रहते हैं और किसी के हृदय में पैठ नहीं पाते ।

अप्पी : क्या कहते हो, तुम किसी के हृदय में पैठ नहीं पाते ! तुम ख़ूब जानते हो कि...

दिलीप : मैं मन के शून्य की बात करता हूँ अप्पी, उसके अपार रीतेपन की, जिसने मुझे सेमल की फली से निकले रूई के आवारा फूल-सा बना दिया है ।

कुछ क्षण चुपचाप चाय पीता है ।

— : लेकिन नहीं, मैं अधिक नहीं उड़ूँगा । एक भारी, जमी, घिरी घटा की तरह टिक कर बैठ जाऊँगा । वाणी मुझे अब और नहीं भरमा सकती । मैं उससे पीछा छुड़ा कर भाग आया हूँ । मेरी रूह आज़ादी चाहती है, विकास चाहती है, उड़ान

चाहती है। और वह सब उस खोखले माहौल में सम्भव नहीं।

अप्पी : तुम यहाँ रहो और अपने मन के मुताबिक खण्ड-काव्य पूरा कर लो तो मुझसे बढ़ कर कौन ख़ुश होगा ! मैं स्वयं भले ही कुछ न लिख सकी, पर यदि तुम्हें ज़रा भी मदद दे सकी तो अपने को धन्य मानूंगी।

नीचे डेवढ़ी में कोई कुण्डी खटखटाता है।

— : **(बारजे पर जा कर)** पार्वती, देखो कौन है। **(फिर आ कर बैठ जाती है)** लेकिन सुस्थिर हो जाओ तो शादी कर लो। वाणी से नहीं करना चाहते तो मैं तुम्हारे लिए ऐसी सुन्दर और सुशील बहू ढूंढ़ दूंगी कि तुम्हारी सारी भटकन दूर हो जायगी। मैं हर बरस तुम्हारे पास दिल्ली आया करूंगी और तुम्हें ख़ुश देख कर ख़ुश हो लूंगी।

दिलीप : मैं शादी का तय करूं या न करूं, पर मैं यहाँ रहूँगा तो तुम कविताएँ ज़रूर लिखोगी। अपने दुख-दर्द, तकलीफ़-मुसीबत—अपने वातावरण की घुटन और बदसूरती—इस सब को भुलाने के लिए काव्य से बेहतर कोई साधन नहीं, फिर उसके लिए, जिसके पास जन्मजात प्रतिभा हो ! मैं नहीं जानता, मैं फिर कभी यहाँ आ पाऊँगा या नहीं, पर दूर बैठा भी जब मैं तुम्हारी कविताएँ पढ़ूंगा तो अपने आपको तुम्हारे बिलकुल निकट महसूस करूंगा और मुझे लगेगा कि आख़िरकार मेरी ज़िन्दगी बेकार नहीं गयी।

अप्पी : और तुम जो इतने प्रसिद्ध कवि हो ! (**गले में घण्टियाँ बज उठती हैं—खुल कर हँसती है**) लेकिन तुम्हें बातें करना ख़ूब आता है। मीठी, प्यारी, ख़ुश कर देने वाली बातें...। तुम रहोगे तो मैं कविताएँ भी लिखूंगी।...

पार्वती : (**बारजे के दरवाज़े में आ कर**) बहू जी, एक लड़की है,

जम्मू से आयी है, दिलीप बाबू को पूछ रही है।

दिलीप : (**घबरा कर**) वाणी न हो।

अप्पी : (**जिसका मुख एकदम सफ़ेद हो जाता है, लेकिन दिलीप ने उसे इतना आश्वस्त कर दिया है कि वह संयत हो कर मुस्कराती है और व्यस्त होते हुए उठती है**) घबरा क्यों गये ! मैं अभी जा कर ले आती हूँ।

चूँकि अप्पी की पीठ बारजे की ओर है, इसलिए वह नहीं देखती कि वाणी वहाँ दरवाज़े पर आ गयी है।

दिलीप : लाने की ज़रूरत नहीं, वह स्वयं आ गयी है।

अप्पी : (**चौंक कर मुड़ती है। दोनों हाथ माथे पर ले जाती है**) आइए, आ जाइए !

वाणी भीतर आती है। पढ़ी-लिखी फ़ैशनेबल लड़की, जिसके सौन्दर्य की दीप्ति मेक-अप की मोहताज है।

— : (**वाणी के लिए अपने वाली कुर्सी पेश करती हुई**) आइए। इधर बैठिए !

वाणी : (**बैठती नहीं और दिलीप की ओर देख कर शरारात से दोनों हाथ माथे पर ले जाती हुई मुस्कराती है**) नमस्कार !

दिलीप : (**खिसियानी हँसी के साथ**) तुम दोनों का परिचय तो कराने की ज़रूरत नहीं।

वाणी : जी नहीं। (**अप्पी से**) मैं वाणी हूँ और आपको मैं जानती हूँ।

अप्पी : बड़ी कृपा की आपने। (**कुछ घबरा कर**) न जाने ये कहाँ रह गये !

वाणी : वे सब दुकान पर रुक गये हैं। मुझे एक लड़का यहाँ छोड़ गया है।

अप्पी : (**वाणी से**) आइए...आइए...इधर बैठिए ! तकलीफ़ तो हुई होगी आप को रास्ते में ?

वाणी : (**दिलीप की ओर देख कर शरारत से मुस्कराते हुए**) नहीं आप की कृपा से किसी तरह पहुँच ही गये हैं।

अप्पी : (**खाली प्यालों को ट्रे में रखते हुए**) कहिए, आप चाय पियेंगी या दूध ?

वाणी : आप न तकल्लुफ़ कीजिए, न तकलीफ़ !

अप्पी : इसमें तकल्लुफ़ या तकलीफ़ काहे की है। हमने अभी चाय पी है। मैं अभी नौकरानी से चाय का पानी रखने को कहती हूँ।

वाणी : (**एक-एक शब्द पर ज़ोर दे कर**) अपराजिता बहन, आप ज़रा भी तकलीफ़ न कीजिए। दूध मैं पीती नहीं और चाय के लिए हमारे पास वक़्त नहीं। हमें अभी जाना है।

अप्पी : (**जाते-जाते रुक कर**) भला यह भी कोई समय है जाने का ! अब तो कोई लारी भी न जायगी।

वाणी : हम कार में आये हैं।

अप्पी : तो भाई चाय तो पीते जाइए। हम ज़रा गाँव चले गये थे। दिलीप कुछ थक गये हैं, इसलिए मैने चाय के लिए कह दिया, वरना हमारा तो खाने का समय हो गया है।

वाणी : खाना हम देर से खाते हैं।

अप्पी : मैं जानती हूँ, इसलिए सिर्फ़ चाय के लिए कहा है। बैठिए, मैं अभी आती हूँ।...पार्वती...पार्वती...!

नौकरानी को आवाज़ देती हुई चली जाती है।

वाणी : (**वैसे ही खड़े-खड़े**) दिलीप !

दिलीप : (**चुप रहता है।**)

वाणी : बड़े ज़ालिम हो। यहाँ भाग कर आ बैठे हो और तुम्हें इस बात की रत्ती भर परवाह नहीं कि तुम्हारे कारण इतने

लोगों को परेशानी उठानी पड़ेगी। तुम्हारा फक्कड़पना कभी न जायगा। तुम कभी ज़िम्मेदारी न सीखोगे !

दिलीप : (**चुप रहता है।**)

वाणी : तुम्हें यहीं आ कर बैठना था तो इतने लोगों को साथ क्यों लाये थे ? (**उत्तर के लिए रुकती है। दिलीप उत्तर नहीं देता। अनुरोध के स्वर में**) अब उठो। सुबह ही हमें श्रीनगर के लिए चल देना है। रात पहली बार बर्फ़ पड़ी है वहाँ। यही वक़्त है बर्फ़ गिरती देखने का।

दिलीप : मुझे कहीं नहीं जाना वाणी। मैं यहीं दूर से वर्फ़ गिरती देख लूँगा।

वाणी : पागल हो ! यहाँ से तुम कैसे बर्फ़ गिरती देख सकते हो ?

पार्वती मेवे की दो प्लेटें लिये आती है। उन्हें तिपाई पर रख देती है और ट्रे उठा कर ले जाती है।

दिलीप : मैं ऊपर बारहदरी से सामने के पहाड़ों को रोज़ बर्फ़ से सफ़ेद होते देखूंगा।

वाणी : (**हँसती है**) तुम एकदम बच्चे हो। अब उठो, परेशान न करो। मैं रात भर सो नहीं सकी।

उसे हाथ पकड़, उठाती है।

दिलीप : (**कुर्सी का बाज़ू पकड़े वहीं बैठा है**) मैं ही कब सो सका हूँ।

वाणी : तुम तो यहाँ आ कर अप्पी की गोद में...

दिलीप : (**सहसा उठ कर चिल्लाते हुए**) वाणी !

वाणी : (**भूल-सुधार लेती है**)...अपनी अप्पी बहन की गोद में आ बैठे हो और मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में...

दिलीप : वाणी जाओ ! अब मुझे कुछ पल के लिए आराम की साँस लेने दो।...तुमने मुझे बहुत सता लिया।

फिर हठी बच्चे की तरह बैठ जाता है।

वाणी : (**कण्ठ में आर्द्रता है**) दिलीप !

दिलीप : (**चुप रहता है।**)

वाणी : तुम मुझे सता रहे हो या मैं तुम्हें !

दिलीप : जाओ, तुम देख आओ आसमान से बर्फ़ गिरते। मैंने ओले गिरते देखे हैं।

वाणी : इन बातों से लाभ ! चलो यहाँ से। तुम्हें यहाँ हरगिज़-हरगिज़ न आना चाहिए था। तुम्हें बराबर उस दिन की याद आयेगी, जब तुमने पहली बार ओले गिरते देखे थे। तुम यहाँ रहोगे तो इस घर के ठहरे, शान्त वातावरण पर भी ओले गिरने लगेंगे।

दिलीप : (**कोई उत्तर नहीं देता।**)

वाणी : अब मैं सब समझ गयी हूँ, तुम क्यों आये। कुन्तल से तुम्हें मालूम हुआ कि अप्पी उदास रहती है; उसने ज़िन्दगी जीना छोड़ दिया है; वह दिन-दिन भर लेटी रहती है और तुमने तय कर लिया, उसे फिर से ज़िन्दगी जीना सिखाओगे। मैं रात भर तुम्हारी इस हरकत पर सोचती रही हूँ। हम सब को बहका कर तुम बर्फ़ देखने के बहाने चले आये और जम्मू पहुँच कर खिसक आये। (**हँसती है**) तुम अब भी वही पुराने रूमान-पसन्द हो। लेकिन दिलीप, ज़िन्दगी में जो कल बीत जाता है, वह वापस नहीं आता। तुम उसी कल के सपने देखते हो। आज में नहीं बसते। तुम नहीं जानते कि आज, आने वाले कल का सन्देश देता है, बीते कल का नहीं। जो बीते कल में बसता है, वह ज़िन्दगी का साथ नहीं निभाता। (**फिर उसका हाथ खींचती है**) उठो। जो बीत गया, वह कभी वापस नहीं आयेगा।...तुमने देख

लिया न कि अप्पी न बीमार है, न उदास। मुझे तो वह एकदम नॉर्मल लगी है।

दिलीप : (**कोई उत्तर नहीं देता। चुपचाप उसकी ओर देखता रहता है।**)

वाणी : (**सारा अनुरोध अपनी वाणी में भर कर**) दिलीप !

दिलीप : तुम ज़िन्दगी को बिलकुल नहीं समझतीं !

वाणी : यही मैं तुम से कहना चाहती हूँ।

दोनों कुछ क्षण मौन रहते हैं।

— : (**फिर उसी अनुरोध-भरे स्वर में**) दिलीप !

दिलीप : वाणी जाओ ! मुझे परेशान न करो !

वाणी : याने मैं परेशान कर रही हूँ !

दिलीप : मैं जाऊँगा तो तुम्हारा लुत्फ़ भी किरकिरा कर दूँगा। मुझसे तुम्हारी बातें न सही जायेंगी। हम फिर लड़ने लगेंगे।

वाणी : तुम हँसी-हँसी में रूठ जाते हो।

दिलीप : हँसी-हँसी में फ़र्क होता है। मैं अप्पी का इतना आदर करता हूँ।

वाणी : तो तुमने मेरे और विष्णु के बारे में इतनी झूठी-सच्ची बातें कह कर बदला तो ले लिया। तुमने वो-वो बातें कहीं कि और कोई होता तो मैं उसे ज़िन्दगी भर माफ़ न करती। (**लम्बी साँस भरती है**) लेकिन न जाने क्यों दिलीप, तुम्हारी गालियों का भी मुझ पर उलटा असर होता है।

दिलीप : मैंने तुम्हें गालियाँ दीं !

वाणी : गालियाँ और कैसी होती हैं !

दिलीप : और तुमने जो मुझसे कहा कि अप्पी...

वाणी : अब हटाओ, इस बहस को फिर से शुरू न करो। तुम जीते

मैं हारी। मैं तुमसे हमेशा हार जाती हूँ।

दिलीप : इसमें हार-जीत का क्या सवाल है!

वाणी : क्रोध या आवेश में जो भी मेरे मुँह से निकल गया, मैं उसके लिए हाथ जोड़ कर तुमसे माफ़ी चाहती हूँ। मैं स्वयं अपराजिता बहन का आदर करती हूँ। मैंने सिर्फ़ यही कहा था कि उन सब बातों के बाद, जो तुम्हीं ने मुझे बतायीं, तुम्हें अखनूर न आना चाहिए था।

दिलीप : मैं जम्मू तक आ कर उससे मिले बिना चला जाता!

वाणी : ख़ैर, लौटती बार तुम चाहे बरस भर यहाँ बैठे रहना, पर अब सारे-का-सारा प्रोग्राम मिट्टी में न मिलाओ।

बारजे में आगे-आगे अपराजिता और पीछे चाय की ट्रे लिये पार्वती आती है।

— : (**अपनी बात जारी रखती है**) वह अपराजिता आ रही है। कहो तो मैं उनसे भी क्षमा माँग लूँ (**ज़रा ऊँचे स्वर में**) अपराजिता बहन...

अप्पो सीढ़ियाँ उतरती है।

दिलीप : (**सरगोशी में**) वाणी!

अप्पो : आपने मुझसे कुछ कहा?

वाणी : (**बात बदल देती है**) नहीं, आप कहाँ चली गयीं, मैं यही सोचती थी। (**पार्वती के हाथ में चाय की ट्रे को लक्ष्य करके**) यह आपने क्यों तकलीफ़ की। हमें तो अभी चले जाना है। और फिर मैं अकेली नहीं हूँ। मेरे साथ और भी लोग हैं।

अप्पो : तो क्या हुआ, उनके लिए भी बन जायगी। आपने मेवे छुए भी नहीं।

पार्वती से ट्रे ले कर तिपाई पर रखती है और मेवे की प्लेट उठा कर वाणी के आगे करती है।

अप्पी : लीजिए न !

दायीं ओर सीढ़ियों के दरवाज़े से प्राणनाथ हाथ में सब्ज़ी-तरकारी की टोकरी लिये प्रवेश करते हैं। पीछे दीशी और निम्मो आते हैं। कपड़े उनके दिन भर धूल-मिट्टी में खेलने से एक-दम चीकट हो रहे हैं। चेहरों पर मिट्टी के धब्बे हैं और बाल बिखर गये हैं।

प्राणनाथ : मैं अड्डे पर गया था, बरकत से तरकारियाँ लाने। वहीं दिलीप बाबू के दोस्त मिल गये।

प्राणनाथ पार्वती को तरकारी की टोकरी देते हैं। दीशी बैट और विकेटें वहीं फेंक देता है और मेवे की प्लेट से मुट्ठी भरना चाहता है।

अप्पी : हैं, हैं, क्या करते हो! (**उसकी बाँह झटक कर परे हटा देती है**) हाथ तो देखो, कितने गन्दे हैं! और कपड़े इतनी जल्दी कैसे मैले-चीकट कर दिये!

दीशी : हम लाला जी के साथ अड्डे पर गेंद-बल्ला खेल रहे थे। (**मिनमिनाता हुआ**) हमें भूख लग आयी है।

निम्मो : (**आगे बढ़ कर**) अम्मा देखो, दीशी ने कहाँ बल्ला-विकेटें फेंक दीं।

बैट और विकेटें उठाती है। दीशी लपक कर उससे छीन लेता है।

प्राणनाथ : (**अप्पी से**) जाओ, यह मेवे की प्लेट उधर ले जाओ और इनका हाथ-मुँह धुला कर इन्हें खिलाओ। डेवढ़ी में वे लोग इन्तज़ार कर रहे हैं।

अप्पी के पीछे-पीछे बच्चे बारजे पर जाते हैं। प्राणनाथ लैम्प ले कर सीढ़ियों में रोशनी करते हैं।

प्राणनाथ : आ जाइए साहब...आ जाइए...ज़रा ध्यान से...पुरानी हवेली है साहब, सीढ़ियों में अँधेरा है।

क्षण भर के लिए सीढ़ियों में ग़ायब हो जाते हैं, रंगमंच पर काफ़ी अँधेरा हो जाता है, जिसमें वाणी और दिलीप के ख़ाके दिखायी देते हैं। वाणी दिलीप को उठाना चाहती है और दिलीप कुर्सी का हत्था पकड़े, और भी ज़ोर से कुर्सी से चिपकता है।

फिर प्राणनाथ आगे-आगे लालटेन लिये आते हैं और उनके पीछे हरि, व्यास और किशोर आदि प्रवेश करते हैं।

प्राणनाथ : (**लालटेन को वहीं खूँटी पर टाँगते हुए**) फ़र्नीचर तो भाई यहाँ ज़्यादा नहीं है। इधर चारपाई पर बैठ जाइए, (**वाणी से**) आप यह कुर्सी ले लीजिए।

हरि : आप फ़िक्र न कीजिए भाई साहब, हम जल्दी में हैं, बैठेंगे नहीं (**दिलीप से**) तुम यहाँ आ कर बैठ गये और हम सुबह से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। अजीब चुग़द हो तुम !

व्यास : (**आगे बढ़ कर**) कल सुबह हमें श्रीनगर के लिए चल देना है और तुम यहाँ ऐसे बैठे हो, जैसे अब यहीं धूनी रमाओगे।

किशोर : हम लोगों को तो फिर कॉलेज भी जाना है। तुमने तो लम्बी छुट्टी ले रखी है। तुम्हारा क्या है, फिर आ कर यहाँ रम जाना।

दिलीप : मुझे कहीं नहीं जाना। मैं कुछ दिन अब यहीं रहूँगा।

वाणी : समझाइए इन्हें ज़रा किशोर साहब !

हरि : (**किशोर को पीछे हटाते हुए**) अरे हटाओ, किशोर साहब इन्हें क्या समझायेंगे ! इन हज़रत का सामान कहाँ है ?

कमरे में इधर-उधर देखता है ।

प्राणनाथ : लेकिन भाई, मैं कहता हूँ, इस वक्त आप कहाँ जायेंगे। मेरा ख़याल है, आज रात आप यहीं रहिए। (**बारजे पर जा कर**) अप्पी ऊपर बारहदरी में चार बिस्तर भिजवाओ। किशन सिंह से कहो कि चार चारपाइयाँ...

व्यास : (**बढ़ कर उन्हें रोकते हुए**) आपका बड़ा धन्यवाद भाई साहब, लेकिन हमें तड़के ही जम्मू से चल देना है। दो-एक दिन श्रीनगर रह कर वापस दिल्ली पहुँचना है। इन दो-तीन दिनों में गुलमर्ग भी देखना है और समय हमारे पास बिलकुल नहीं है।

बारजे से अप्पी आती है। उसके पीछे-पीछे दीशी और निम्मो मुट्ठी में मेवे लिये, चबाते आते हैं।

प्राणनाथ : ठीक है भाई, जाना भी हो तो एक-एक प्याला गर्म चाय तो पीते जाइए।

अप्पी : पानी मैं चढ़ा आयी हूँ। (**केतली को हाथ लगा कर देखती है**) यह तो ठण्डी हो गयी। (**वहीं से पार्वती को आवाज़ देती है**) पार्वती...पार्वती...

हरि : इन हज़रत का सामान किधर है ?

व्यास : (**निम्मो से**) क्यों बेटी, तुम्हारे अंकल कहाँ ठहरे हैं ?

निम्मो : (**चुप रहती है।**)

दिलीप : व्यास, तंग न करो !

व्यास : याने हम तंग कर रहे हैं !

हरि : (**निम्मो को गोद में उठा कर**) क्यों बेटा, क्या नाम है तुम्हारा ?

निम्मो हरि की गोद में गुड़ी-मुड़ी हो जाती है।

दीशी : (**आगे बढ़ कर**) इसका नाम निम्मो है और मेरा दीशी।

हरि : (**निम्मो को उतार कर दीशी को उठा लेता है**) क्यों दीशी भइए, तुम्हारे अंकल का सामान कहाँ है ?

दीशी : ऊपर बारहदरी में !

हरि : चलो, हमें दिखाओ बारहदरी, तुम्हें मिठाई ले देंगे ।

उसे उतार कर उसकी उँगली पकड़ लेता है ।

निम्मो : (**मिठाई के नाम पर चहक उठती है**) मैं चलूँगी ।

दीशी : (**निम्मो को धक्का देते हुए**) नहीं, मैं चलूँगा ।

हरि : (**दोनों की उँगलियाँ पकड़ कर बारजे की ओर बढ़ते हुए**) आओ, आओ, तुम दोनों आओ ! (**जाते-जाते वाणी से**) तुम ज़रा अपराजिता बहन से माफ़ी माँग लो ! इन्हें सारी पोज़ीशन समझा दो ।

पार्वती बारजे से आती है ।

पार्वती : आपने बुलाया बहू जी ।

अप्पी : यह चाय ठण्डी हो गयी । यह ट्रे उठा ले जा और बड़ी केतली में चाय बना ।

पार्वती चाय की ट्रे ले जाती है ।

वाणी : (**अप्पी की कमर में हाथ दे कर सहेलियों की तरह उसे पीढ़ों की तरफ़ ले जाती है**) आप ज़रा भी तकल्लुफ़ न कीजिए अपराजिता बहन । चाय हम पी कर चले थे । हमें बहुत जल्दी है ।

व्यास : लातों के भूत बातों से नहीं माना करते । श्रीनगर में बर्फ़ गिरने की सुन्दरता का बखान कर, इतनी दूर से हमें यहाँ घसीट लाये जनाब और ख़ुद यहाँ आ बैठे हैं । भला किसके पैरों में खुजली हुई थी कि ऐसी सख्त सर्दी में इस तकलीफ़-देह सफ़र पर निकलता !

प्राणनाथ : लेकिन भाई, एक दिन में कोई फ़र्क नहीं पड़ जायगा ।

व्यास : इसके लिए नहीं, पर हमारे लिए पड़ जायगा ।

दिलीप : (**दोनों कलाइयाँ कुर्सी की बाँहों पर रखे कुर्सी से चिपकते हुए**) तो भाई, आप लोग जायें ! यदि मैं न जाऊँगा तो बर्फ़ क्या गिरना छोड़ देगी । मैं ज़रा शान्ति चाहता हूँ और यह जगह मुझे पसन्द है ।

किशोर : तुम्हें कुछ भी पसन्द नहीं और सब कुछ पसन्द है । दो दिन में इस शान्ति से भी ऊब उठोगे और इन...

प्राणनाथ : (**हाथ मसोसते हुए**) मैं कहता था, दिलीप बाबू को तो आप...

किशोर : आते-आते छोड़ जायेंगे ।

प्राणनाथ : लेकिन भाई, इस वक़्त तो काफ़ी अँधेरा हो गया है अरौ मैंने सुना है कि नहर की पटरी ठीक नहीं ।

किशोर : हमारी कार का ड्राइवर बहुत होशियार है । हम आराम से चले जायेंगे, आप ज़रा भी फ़िक्र न कीजिए ।

हरि दिलीप का सूटकेस उठाये हुए आता है ।

हरि : लो भई, सूटकेस तो ले आया हूँ ! अब उठाओ इन हज़रत को । देर हो रही है । सब लोग इन्तज़ार कर रहे होंगे ।

व्यास दिलीप की बाँह पकड़ कर उठाता है ।

दिलीप : (**कुर्सी से चिपकते हुए**) मैं कहता हूँ...

किशोर : (**दिलीप की बगलों में हाथ दे कर उसे पीछे से धकेलते हुए**) तुम्हें जो कहना है, रास्ते में कहना ।

दिलीप : (**उठ जाता है । एक हाथ से कुर्सी का बाज़ू पकड़े है । फिर बैठने की कोशिश में**) अरे भाई...

व्यास : (**चीखते हुए**) वहीं चल कर !

अप्पी प्रकट वाणी की बातें सुन रही है, पर आँखें उसकी दिलीप पर लगी हैं—फटी-फटी सपाट और प्रभाहीन । सहसा दिलीप से उसकी निगाहें मिलती हैं ।

दिलीप : अरे भाई, मुझे अप्पी से तो विदा ले लेने दो !

हरि : (**वहीं से**) अपराजिता बहन, हमें क्षमा कर दीजिएगा इस बदतमीज़ी के लिए ! लैकिन इसमें हमारा कोई दोष नहीं। यही हज़रत गिरती बर्फ़ देखने के लिए हमें दिल्ली से कश्मीर घसीट लाये थे ।

किशोर दिलीप को आगे से खींचते और व्यास पीछे से धकेलते हुए सीढ़ियों की ओर बढ़ते हैं ।

प्राणनाथ : (**लालटेन उतार कर आगे बढ़ते हैं**) अरे भाई, रुकिए। सीढ़ियों में अँधेरा है। (**पार्वती को ज़ोर से आवाज़ देते हैं**) पार्वती, किचन की लालटेन इधर ले आओ ! और किशन सिंह से कहो, यह सूटकेस उठाये !

हरि : आप फ़िक्र न कीजिए भाई साहब, हम ले जायेंगे।

अप्पी आगे बढ़ कर दिलीप को रोकना चाहती है, लेकिन वाणी उसके सामने आ जाती है, उसके दोनों हाथ थाम कर खुसफुसाती है और पलटती है ।

वाणी : चलो, मैं अपराजिता बहन से माफ़ी माँग आयी हूँ।

हरि : (**सूटकेस कन्धे पर रखते हुए प्राणनाथ से**) इस बदतमीज़ी के लिए माफ़ कीजिएगा भाई साहब, पर कोई चारा नहीं था। (**प्राणनाथ आगे हो लेते हैं**) आप...बैठिए भाई साहब ! तकलीफ़ न कीजिए। हम चले जायेंगे।

प्राणनाथ : नहीं-नहीं तकलीफ़ काहे की। नीचे तक तो पहुँचा आऊँ। सीढ़ियों में बहुत अँधेरा है।

प्राणनाथ सीढ़ियों से उतरते हैं। पीछे हरि, फिर दिलीप की बाँह घसीटते किशोर और पीछे से धकेलते व्यास। पार्वती दूसरी लालटेन ला कर बारजे के दरवाज़े में रख देती है ।

दिलीप : (**सीढ़ियों के दरवाज़े को ज़ोर से पकड़ते हुए, घोर विवशता से**) अप्पी भाई, मैं फिर आऊँगा । ये लोग बड़े ज़ालिम हैं, मेरा कोई बस नहीं चलने देते ।

व्यास : (**पीछे से धकेलते हुए**) अरे चलो, तुम कोई काले पानी नहीं जा रहे हो, गुलमर्ग ही जा रहे हो । वापसी पर फिर यहाँ आ जाना ।

अप्पी बेबस है । कुछ कह नहीं पाती । एक कदम बढ़ती है । लेकिन वाणी फिर उसका रास्ता रोक लेती है ।

वाणी : (**सहसा पलट कर अप्पी के दोनों हाथ अपने हाथों में ले कर**) अपराजिता बहन नमस्ते ! क्षमा कर दीजिएगा, हमें इस अशिष्टता के लिए । पर हमारा कोई दोष नहीं । कभी दिल्ली आइए तो ज़रूर पता दीजिएगा । (**उत्तर के लिए रुकती है, पर अप्पी आँखें फाड़े चुपचाप दिलीप की ओर देखती रह जाती है । वाणी के चेहरे पर ईर्ष्या-जनित क्रोध और प्रतिशोध का एक कौंधा लपकता है । लेकिन बड़े प्रयास से संयत हो कर, बरबस हँसती हुई, वह इतना और जोड़ देती है**) या हो सकता है वापसी पर हमीं आयें और आपके साथ कुछ वक़्त गुज़ारें ।

अप्पी कोई उत्तर नहीं देती । सहसा दोनों हाथ माथे पर ले जा कर नमस्ते करती हुई वाणी पलटती है और तेज-तेज सीढ़ियाँ उतरती है । अप्पी दो कदम चलती है । फिर धम से कुर्सी में धँस जाती है । दूसरे क्षण चौंक कर उठती है, सीढ़ियों के दरवाज़े में चौखट से टेक लगा कर जा खड़ी होती है और नीचे के अँधेरे में आँखें गाड़े देखती है ।

बारजे से दीशी और निम्मो प्रवेश करते हैं।

दीशी : (**निम्मो से**) देखो जी, हमारे पास क्या है ! (**उछाल कर फिर दबोचते हुए**) अठन्नी ! हमें अंकल ने दी है।

निम्मो : (**दीशी को दिखा कर**) हमारे पास रुपया है। हमें भी अंकल ने दिया है।

दीशी : (**अपनी अठन्नी को बायें हाथ से पीठ पीछे छिपाता और दायाँ हाथ आगे बढ़ाता हुआ**) रुपया ! दिखा तो !

निम्मो : नहीं दिखाते।

दीशी : ज़रा दूर से दिखा दो !

निम्मो : (**तनिक दूर से**) यह देखो !

निम्मो रुपया दिखाती है। दीशी झपट कर उससे रुपया छीन लेता है।

दीशी : (**हाथ घुमा कर झूठ-मूठ रुपया शून्य में फेंकते हुए**) वो गया फुर्र...र्र्र...र्र्र !

निम्मो : (**रोने लगती है**) मेरा रुपया ले लिया। (**वहीं धरती पर बैठ कर एड़ियाँ रगड़ने लगती है**) हाय मेरा रुपया... अम्माँ-ँ दीशी ने मेरा रुपया ले लिया ! (**अप्पी ध्यान नहीं देती। निम्मो उठ कर दीशी से लिपट जाती है। धड़ाधड़ उसे पीटती है**) दे मेरा रुपया...दे....दे....दे...!

दीशी : (**जवाब में उसे पीटता हुआ**) फिर पीटेगी ! (**उसकी पीठ पर मुक्के मारता है**) ले...यह ले...यह ले...!

अप्पी : (**पलट कर चीखती हुई**) निम्मो...दीशी....क्या हो गया है तुम दोनों को !

बिफरी हुई आती है और दोनों को अलग-अलग करके घसीटती हुई कुर्सी के पास लाती है और धम से उसमें बैठते हुए जोर का एक-एक थप्पड़ दोनों को जड़ देती है।

बच्चे सहम जाते हैं। एक-एक नज़र वह दोनों के सहमे हुए चेहरों पर डालती है और फिर अव्यक्त आवेग से दोनों बाँहों में भर कर उन्हें छाती से लगाते हुए रोने लगती है।

प्राणनाथ लालटेन लिये हुए सीढ़ियों से आते हैं और वहीं चौखट में चुपचाप खड़े देखते रहते हैं।

पर्दा तेज़ी से गिरता है।

●